महाप्रज्ञा की साधना एवं ब्रह्मवर्चस् की सिद्धि

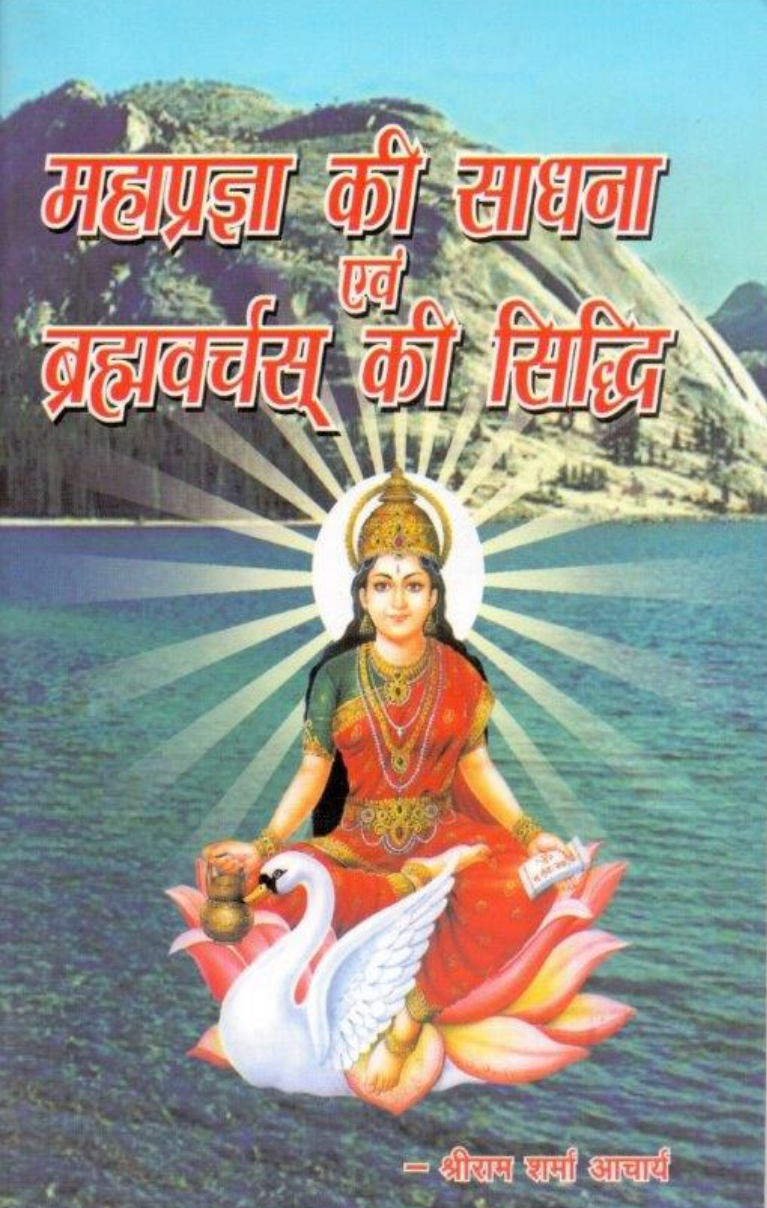

– श्रीराम शर्मा आचार्य

महाप्रज्ञा की साधना एवं ब्रह्मवर्चस की सिद्धि

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : १२.०० रुपये

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

लेखक :
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

त्रिपदा गायत्री की आध्यात्मिक त्रिवेणी

गंगा, यमुना, सरस्वती–ये तीन धाराएँ मिलकर त्रिवेणी संगम बनता है। यह संगम ही तीर्थराज है। इसी के स्नान का सबसे बड़ा पुण्य माना गया है। रामायण में तीर्थराज के स्नान-अवगाहन का पुण्यफल बताते हुए कहा गया है–

मज्जन फल देखिय तत्काला।
काक होहि पिक बकहु मराला॥

तीर्थराज के स्नान का पुण्यफल उसी समय, तत्काल दिखाई पड़ता है। उसमें विलंब नहीं लगता। कौए, कोयल हो जाते हैं और बगुले हंस बन जाते हैं। इस उपमा में संकेत यह है कि आकृति तो ज्यों की त्यों रहती है, पर आध्यात्मिक कायाकल्प से प्रकृति बदल जाती है।

आध्यात्मिक त्रिवेणी–त्रिपदा गायत्री है। उसके तीन चरण मिलकर त्रिवेणी संगम बनते हैं। परब्रह्म का निरूपण करते हुए इन्हें ईश्वर की तीन सर्वोच्च विशेषता सत्–चित्–आनंद कहा गया है। मानव जीवन में उसकी झांकी 'सत्यं शिवं सुंदरम्' के रूप में होती है। इनका अधिक विस्तृत तत्त्व कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के रूप में किया गया है।

मानवी सत्ता तीन भागों में विभक्त है–स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर। इन तीनों को पवित्र-परिष्कृत बनाने के लिए जिस दृष्टि, नीति और मर्यादा का विधान किया गया है, उन्हीं को कर्म, ज्ञान और भक्ति कहते हैं। अध्यात्म-दर्शन इन्हीं तीन खंडों में विभक्त है। व्यवहार में इन्हीं तीनों का रूप धार्मिकता, आध्यात्मिकता और आस्तिकता के रूप में दृष्टिगोचर होता है। (१) धार्मिकता का अर्थ है–कर्त्तव्य-परायणता। धर्म और कर्म एक ही तथ्य के दो नाम हैं। धर्मनिष्ठ, कर्त्तव्यपरायण अथवा कर्मयोगी इनमें से किसी भी शब्द का उपयोग

किया जा सकता है। सद्ज्ञान-तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान-ब्रह्मज्ञान में स्तर का अंतर है। वस्तुतः वे सब आते एक ही श्रेणी में हैं। यह आध्यात्मिकता का क्षेत्र है। (२) आध्यात्मिकता अर्थात अपने आप के संबंध में जानकारी-अपने लिए श्रेयस्कर मार्ग का चयन-विवेकपूर्ण रीति-नीति का निर्धारण। (३) तीसरा क्षेत्र है-भक्तियोग। इसे आस्तिकता कहते हैं। ईश्वर की आस्था प्रकारांतर से कर्मफल व्यवस्था पर विश्वास कराती है। सुखी के लिए सन्मार्ग पर चलने और दुखी बनने के लिए अनीति अपनाने की सुनिश्चितता पर विश्वास कराती है। ईश्वरप्रदत्त जीवन धरोहर के सदुपयोग का संकेत देती है। भक्ति का अर्थ है प्रेम। ईश्वर से प्रेम करने का अर्थ है उसके बनाए पदार्थों का सदुपयोग अर्थात प्राणियों के साथ सद्व्यवहार करना, संक्षेप में उदारता, करुणा, दया, सेवा, सहायता जैसी सद्भावनाओं के लिए 'भक्ति' शब्द का प्रयोग होता है। उच्चस्तरीय प्रेम का यही एकमात्र स्वरूप है।

वामन अवतार ने राजा बलि से तीन कदम भूमि माँगी थी। राजा ने उसे दिया। वामन ने अपने कदम लंबे करके इतने से ही उसका तीनों लोकों का राज नाप लिया। इस प्रसंग में त्रिपदा के मापदंड का संकेत है। **'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित जगत्यां जगत्।'** अर्थात इस संसार में जो कुछ भी है, वह सब ईश्वर में ओत-प्रोत है। इस तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए भगवान ने समय-समय पर अर्जुन, यशोदा, कौशल्या, काकभुशुंडि आदि को अपने विराट रूप दिखाए हैं। यह समस्त संसार गायत्री रूप है। तीनों लोक उसी की परिधि में हैं। सर्वत्र उसी दिव्य शक्ति को संव्याप्त देखा जाए और संपूर्ण जड़-चेतन सृष्टि के साथ सद्व्यवहार किया जाए, यह तत्त्वदृष्टि गायत्री के त्रिपदा शब्द के साथ जुड़ी हुई है। इसे अपनाकर मनुष्य तत्त्वज्ञानी बन सकता है और हर घड़ी कण-कण में प्रभु-दर्शन का आनंद लेता रह सकता है।

खगोलविद्या के अनुसार इस ब्रह्मांड को मध्य-नीचे-ऊपर इन तीनों भागों में विभक्त किया गया है और उन विभागों को भूः भुवः स्वः

कहा गया है। इस विभाजन में ब्रह्मांड की सारी परिधि का समावेश है। इसे प्रकृति अथवा परमेश्वर का विस्तार क्षेत्र कह सकते हैं। इन तीन शब्दों के अंतर्गत विराट ब्रह्म की व्याख्या हो जाती है।

जीव जगत के भी यही तीन क्षेत्र हैं। इन्हें जीव, प्रकृति और ब्रह्म कहते हैं। यही है त्रैत विज्ञान। क्रियाशक्ति के रूप में शरीर–ज्ञानशक्ति के रूप में सूक्ष्मशरीर और भावशक्ति का प्रतीक कारण शरीर है। कारणशरीर को ही अंत:करण कहते हैं। इसी में आकांक्षाएँ, भावनाएँ, मान्यताएँ जगी होती हैं। यही जीव ब्रह्मांड है। आत्मविवेचना के लिए अध्यात्मशास्त्र में इन्हीं तीनों लोकों का वर्णन है। गायत्री-मंत्र में सन्निहित तीन व्याहृतियों में इसी जीव चेतना का वर्णन है। ब्रह्म-विवेचना में ये तीन व्याहृतियाँ ब्रह्मांडवाचक हैं।

सृष्टि-संचालन में तीन शक्तियाँ काम करती हैं–(१) सृजन (२) अभिवर्द्धन (३) परिवर्तन। इसी धुरी पर यह प्रकृति-चक्र चल रहा है। जगत जड़ है। इसका अर्थ इतना ही है कि पदार्थों में चेतना-शक्ति नहीं है। वह चिंतन या निर्णय नहीं कर सकता है। इतने पर भी उसमें हलचल तो है। हलचल न होती तो सर्वत्र स्थिरता दृष्टिगोचर होती, स्तब्धता छाई रहती, पर ऐसा नहीं है। हर पदार्थ हलचल करता है, उत्पन्न होता, बढ़ता और मरता है। पेड़-पौधों से लेकर प्राणियों के शरीर तक इसी प्रक्रिया में होकर गुजरते हैं। धातु-पाषाण जैसी स्थिर और कठोर वस्तुएँ इसी व्यवस्था में बँधी हुई हैं। गति मंद होने से वे स्थिर लगती हैं। इन तीनों गतिविधियों के क्षेत्र जिस चेतना-शक्ति से प्रभावित और संचालित होते हैं, उसे त्रिपदा कहा गया है। गायत्री-महामंत्र की तीन व्याहृतियों में चेतना-क्षेत्र के इस विस्तार का वर्णन है। उसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश कहा गया है। शक्तियों का विवेचन करते हुए इन्हीं तीन आधारों को सरस्वती, लक्ष्मी और काली कहते हैं। ये तीनों ही गायत्री महाशक्ति की तीन धाराएँ हैं।

तीन शरीरों में जो प्राणविद्युत, जीवनीशक्ति भरी रहती है उसका नामकरण-ओजस्, तेजस् और वर्चस् हुआ है। सुंदरता, बलिष्ठता, सक्रियता, दक्षता को ओजस् कहते हैं। इसी के अनुदान से शरीर प्रतिभा संपन्न एवं आकर्षक लगता है। यह तत्त्व कम पड़ जाए तो मुरदनी छाई रहती है, आलस्य घेरे रहता है और करते-धरते नहीं बनता। बड़ी कठिनाई से ही आधा-अधूरा काम हो पाता है। तेजस् मानसिक प्रखरता का नाम है। कुशाग्र बुद्धि, सूझ-बूझ वाले, दूरदर्शी, विवेकवान, बुद्धिमान इसी क्षमता से संपन्न होते हैं। शरीर, शरीर से प्रभावित होता है और मन, मन से। आँखें रूप और क्रिया देखकर, कान मधुर वचन सुन-सुनकर प्रभावित होते हैं। एक शरीर दूसरे शरीर से क्या लाभ ले सकता है? यही उनके आकर्षण का आधार है। किंतु बुद्धिक्षेत्र दूसरे की बुद्धिमत्ता, समझदारी, सुझाव, परामर्श, प्रतिपादन आदि विशेषताओं से ही प्रभावित होता है। तेजस् का परिचय इसी बौद्धिक प्रखरता के रूप में मिलता है। शरीर के बलिष्ठ, पहलवान और बुद्धि से सशक्त विद्वान बुद्धिमान कहलाते हैं। ओजस् शरीर में और तेजस् बुद्धि में अपनी विशिष्टता का परिचय देते हैं। साहस, शौर्य, पराक्रम, संतुलन, संकल्प इसी शक्ति बाहुल्य का परिचय देते हैं।

शक्ति-विवेचना में त्रिपदा-गायत्री का तीसरा चरण वर्चस् है। इसे आत्मबल, आत्मतेज कहा गया है। उत्कृष्टता, आदर्शवादिता, श्रद्धा, श्रमशीलता जैसी विशेषताएँ इसी केंद्र में भरी होती हैं। सदुद्देश्यों के लिए भौतिक सुखों की उपेक्षा करने वाली तपस्वी प्रकृति वर्चस् की ही देन है। ब्राह्मणत्व इसी क्षेत्र में पनपता है। ऋषित्व के मणिमुक्तक इसी रत्नाकर की देन हैं। वर्चस् का पूरा नाम ब्रह्मवर्चस् है, इसे ब्रह्मतेज भी कहते हैं। आत्मा के भीतर परमात्मा का अंश जितना अवतरित होता है, उसी अनुपात से ब्रह्मवर्चस् का आभास मिलता है। यह वर्चस् ही देवत्व है। मनुष्य में देवत्व के प्रकट होने को वर्चस् का ही अनुदान कह सकते हैं। ओजस्, तेजस् और वर्चस् के रूप में

त्रिपदा-गायत्री अपना अनुग्रह चमत्कार-वरदान साधक को प्रदान करती है। इन्हीं हुंडियों को संसार के बाजार में भुनाकर सुख-साधनों की अभीष्ट वस्तुएँ तथा परिस्थितियाँ खरीदी जा सकती हैं।

शरीर का आहार अन्न, जल, वायु है। उसका विभाजन सिर, धड़ और पैरों के रूप में किया जा सकता है। लेखन-कार्य में कलम, स्याही और कागज चाहिए। प्राणी जलचर, नभचर, स्थलचर होते हैं। प्राणियों की प्रकृति सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी होती है। ये तत्त्व के अंतर्गत सत्, रज, तम के आधारभूत कारण हैं। उन्हीं से पाँच तत्त्व पाँच तन्मात्राएँ आदि का उद्भव होने से उस समूचे दृश्य जगत का निर्माण हुआ है। इस प्रकृति या ब्रह्म का यह त्रिधा अस्तित्त्व त्रिपदा-गायत्री का ही क्रीड़ा-क्षेत्र है। भूः भुवः स्वः की तीन व्याहृतियों में यही संकेत है कि इस समस्त विस्तार के भीतर से वह सारतत्त्व उपलब्ध किया जा सकता है जो मानवी-चेतना को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए अभीष्ट है।

यज्ञोपवीत में एक ब्रह्मग्रंथि और तीन देव-ग्रंथियाँ लगाई जाती हैं। ब्रह्मग्रंथि ॐकार की प्रतीक है। तीन व्याहृतियों के रूप में तीन देव-ग्रंथियाँ लगती हैं। ॐकार-व्याहृति एवं गायत्री के तीन चरणों की प्रतिमा यज्ञोपवीत रूप में बनती है। शरीर रूपी देवमंदिर में गायत्री माता की प्रतिमा यज्ञोपवीत रूप में ही प्रतिष्ठित की जाती है। यह प्रतिमा धातु-पाषाण की इसलिए नहीं बनाई गई कि उसे हर समय शरीर पर धारण किए रहना कठिन पड़ता है। सूत की बनी गायत्री की मूर्ति को बिना किसी कठिनाई के शरीर-मंदिर में हर समय प्रतिष्ठित रखा जा सकता है। गायत्री में सन्निहित शिक्षाओं तथा प्रेरणाओं को हृदयंगम किए रहने-कलेजे में चिपकाए रहने और उस उत्तरदायित्व को कंधे पर रखे रहने-पीठ पर लादे रहने की आवश्यकता समझी गई। इसलिए यज्ञोपवीत का धारण-क्रम ऐसा है जिससे उसे हृदय, जिगर, पीठ और कंधे पर लपेटा जा सकेगा। समझना चाहिए कि

गायत्री में सन्निहित आदर्शों एवं मर्यादाओं में मानवी काया को सही दिशाओं में पूरी तरह जकड़ दिया गया है। यज्ञोपवीत को देवत्व का चिह्न माना जाता है। द्विजत्व का अर्थ है–पशु–प्रवृत्तियों का परित्याग और मानवी उत्कृष्टता का अवधारण। मनुष्य के शरीर का एक जन्म मानवी माता के पेट से होता है, दूसरा गायत्री माता के पेट से। इस जन्म में सद्बुद्धि की, सद्भावना की प्रधानता रहती है। इस व्रतशीलता की अवधारणा ही द्विजत्व है। उसी को यज्ञोपवीत कहते हैं। गायत्री के प्रतीक चिह्न यज्ञोपवीत को धारण करना इसी व्रतशीलता को स्वीकार करने की घोषणा है।

ॐकार एक है। वर्गीकरण करने पर उसके तीन विभेद सामने आते हैं–अ–उ–म्। इन तीनों का विस्तार तीन व्याहृतियों के रूप में हुआ है। भूः भुवः स्वः में ॐकार के तीन भागों का ही विस्तार है। इन तीन व्याहृतियों की विवेचना गायत्री के तीन चरणों में हुई है। गायत्री मंत्र में आठ–आठ अक्षरों के तीन चरण सर्वविदित हैं। एक–एक चरण में तीन–तीन शब्द हैं। इस प्रकार वे नौ बन जाते हैं। यज्ञोपवीत के यही नौ धागे हैं जिन्हें भारतीय धर्म एवं तत्त्वज्ञान के प्रतीक रूप में कंधे पर धारण किया जाता है। राम और परशुराम ने संसार में जिन परम पुनीत नौ मानवी गुणों का संकेत किया है यज्ञोपवीत के नौ धागों द्वारा उनका निरंतर स्मरण किया–कराया जाता है। इसे नैतिक प्रशिक्षण भी कह सकते हैं।

गायत्री को वेदमाता माना गया है। वेदों की गणना चार भी होती है और तीन भी। गायत्री के चार खंड भी हैं और तीन भी। शीर्ष समेत गायत्री के चार चरण होते हैं और गोपथ ब्राह्मण की–गायत्री उपनिषद् में उसे चतुष्पदी भी कहा गया है। त्रिपदा तो उसका नाम प्रसिद्ध ही है। चार वेद–ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद हैं। इनमें से तीन ही प्रधान हैं। चौथा सामवेद तो उन्हीं तीनों में से गायन के उद्देश्य से संकलन भर किया गया है। उसमें स्वतंत्र मंत्र तो नगण्य जितनी संख्या

में हैं। दोनों ही दृष्टियों से गायत्री को वेदमाता कहना उपयुक्त है। तीन वेद माने जाएँ तो उनकी त्रिपदा और चार वेद माने जाएँ तो उनकी संज्ञा चतुष्पदी बनती है। तीनों वेदों का विषय ज्ञान, कर्म और उपासना है। इन्हीं को ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग कहा गया है। इनके आधार पर मानवी विपत्तियों के तीनों कारणों का निवारण होता है। विपत्ति के कारण अशक्ति, अभाव और अज्ञान हैं। इन्हीं तीनों को रावण, कुंभकरण, मेघनाद की उपमा दी गई है। यही तीन महिषासुर, मधुकैटभ और निशुंभ हैं। त्रिपदा गायत्री की दिव्यशक्ति से इन सभी संकटों के निवारण का होना माना गया है।

विपत्तियाँ तीन भागों में विभक्त हैं–आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक। आएदिन क्रिया की अनुपयुक्तता के कारण अनाचरणों से उत्पन्न कठिनाइयाँ आधिभौतिक हैं। आधिदैविक वे हैं जो प्रारब्धवश, अप्रत्याशित रूप में दुर्घटनाएँ बनकर सामने आती हैं। उन पर मनुष्य का अपना वश नहीं होता और न प्रत्यक्षतः वह उनका दोषी ही होता है। तीसरा आधि आत्मिक है जो विकृत चिंतन के कारण मनोविकारों की प्रतिक्रिया बनकर सामने खड़ी रहती है। त्रिपदा गायत्री का प्रकाश उदय होने पर उन तीनों के ही निराकरण, निवारण का आधार बनने लगता है।

महाकाल के त्रिशूल में तीन नोकें हैं। त्रयंबक शिव के तीन नेत्र हैं। इनमें पाप, ताप और अभिशाप–मल आवरण विक्षेप विनाश की परिपूर्ण शक्ति है। काल, समय को भी कहते हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान इसके ये तीन चरण हैं। भूतकाल की संचित, वर्तमान की उपार्जित और भविष्य की संभावित परिस्थितियों को संतुलित बनाने की क्षमता जिन तीन दिव्य समाधानों में विद्यमान है उन्हें महाकाल की त्रिधा गतिविधियों में जाना जा सकता है। इन्हीं क्षमताओं को त्रिपदा गायत्री कहा गया है।

मानवी आयुष्य तीन भागों में विभक्त है–बचपन, यौवन और वृद्धता। इनकी परिस्थितियाँ, समस्याएँ और आवश्यकताएँ एक-दूसरे

से सर्वथा भिन्न हैं। एक ही जन्म में तीन योनियाँ भुगतना इसी को कहते हैं। शारीरिक परिवर्तन के साथ कई बार मानसिक विकास नहीं हो पाता। बचपन का बचकानापन जवानी में भी छाया देखा गया है। जवानी की लिप्सा वृद्धावस्था में भी नहीं बदलती। जबकि प्रगति के अनुरूप दृष्टिकोण और व्यवहार में भारी अंतर किए जाने की आवश्यकता रहती है। सामयिक सद्विवेक उत्पन्न होते रहने पर ही मानवी जीवन की सफलता संभव होती है। त्रिपदा-गायत्री अपनी अनुकंपा से यथासमय उपयुक्त प्रकाश देती और इस सुर-दुर्लभ अवसर को सार्थक बनाने का अवसर प्रदान करती है।

तत्त्वज्ञान का सारा क्षेत्र इन्हीं तीनों विचारणाओं, प्रेरणाओं और आस्थाओं से आच्छादित है। हलवाई की दुकान पर मिठाइयाँ तो अनेकों नाम, रूप तथा स्वाद की होती हैं, पर उन सबमें अन्न, गन्ना और चिकनाई यही तीन वस्तुएँ उलट-पुलटकर प्रयुक्त होती रहती हैं। धर्म, शक्ति और आप्तवचनों में अनेकों तर्क, तथ्य एवं प्रतिपादन अनेक प्रकार समझाए गए हैं। उन समस्त प्रशिक्षणों के मूल में यही सत्कर्म, सद्ज्ञान और सद्भाव की शिक्षा है। इसे त्रिपदा-गायत्री का ही विस्तार कह सकते हैं।

❐

गायत्री उपासना से अर्जित तीन दिव्य विभूतियाँ

उपासना से ईश्वर संपर्क, ईश्वर संपर्क से आत्मबल का संवर्द्धन, आत्मबल के संवर्द्धन से सुव्यवस्थित और परिष्कृत जीवन, परिष्कृत जीवन से प्रखरता, प्रामाणिकता और प्रतिभा की प्राप्ति, प्रखरता से आकर्षण, जनसम्मान और सहयोग, जनसहयोग से पग-पग पर सफलताएँ, सफल व्यक्ति का प्रसन्न रहना और प्रगति करना, क्रम पर बढ़ती हुई भौतिक समृद्धियों और आत्मिक विभूतियों का सहज संपादन, विभूतिवान का जीवनलक्ष्य की पूर्णता प्राप्त करना, यही है वह क्रम जिसे अपनाकर साधक को सिद्धपुरुष बनने का अवसर मिलता है।

गायत्री उपासना का तारतम्य ठीक इसी प्रकार का है। उसके माध्यम से भौतिक प्रगति की अनेकानेक उपलब्धियों का अभिवर्द्धन और विपत्ति बाधाओं का निराकरण यह दोनों ही प्रतिफल मिलते देखे जाते हैं। बहुधा लोग इन्हीं दो आशाओं को लेकर जप करते भी हैं। इस मार्ग पर चलने वालों में से अनेकों को इस प्रकार की अदृश्य सहायता मिलती भी है जिन्हें उपासना के चमत्कार की संज्ञा दी जाती है। यह सब कैसे होता है? इसमें मोटी बुद्धि तो इतना भर मानती है कि पूजा से प्रसन्न होकर देवता ने वरदान बरसाया। पर तथ्य इससे अधिक गूढ़ है। उपासना के वैज्ञानिक और भावनात्मक दोनों ही आधार ऐसे हैं जिनसे व्यक्तित्व के अंतराल का परिष्कार होता है। इस अभिवर्द्धन के साथ वे विभूतियाँ स्वयमेव खिंची चली आती हैं जिन्हें ऋद्धि-सिद्धि के नाम से जाना जाता है।

गायत्री को त्रिपदा कहा गया है। त्रिपदा अर्थात तीन पद-चरण वाली। तीन शरीर, तीन लोक, तीन गुण, त्रैत ब्रह्म, तीन देव, तीन शक्ति, तीन काल के रूप में इस त्रिपदा शक्ति का विस्तार माना और विवेचन किया जाता है। इसके तीन फल हैं-अमृत, पारस और

कल्पवृक्ष। त्रिपदा के यह तीन अनुग्रह–तीन वरदान तत्त्वदर्शियों ने बताए हैं। भौतिक संपत्तियाँ और आत्मिक विभूतियाँ इन तीनों के ही अंतर्गत आ जाती हैं। आयु, प्राण, प्रज्ञा, पशु, कीर्ति, द्रव्य और ब्रह्मवर्चस् के जो सात प्रतिफल अथर्ववेद में बताए गए हैं, वे सब भी इस अमृत, पारस, कल्पवृक्ष की परिधि–गणना में ही समा जाते हैं।

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक क्षेत्र की सुविधा–समृद्धियों का संवर्द्धन और अभाव–अवरोधों का निराकरण ही हर किसी को अभीष्ट होता है। सारी सुविधा की गणना इसी परिधि में की जा सकती है। कठिनाइयों के नाम रूप का विस्तार कितना ही बड़ा क्यों न हो, वस्तुतः वे सब इन्हीं आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधि–भौतिक क्षेत्र के अंतर्गत ही आती हैं। इन सभी के समाधान को अमृत, पारस और कल्पवृक्ष का आलंकारिक नामकरण किया गया है। गायत्री माता के अनुग्रह से यह तीनों ही विभूतियाँ उपलब्ध होने की बात शास्त्रकार ने कही है। सुसंपन्न सुसंस्कृत मनुष्यों को देवता कहा गया है। देवत्व आकृति के साथ जुड़ा हुआ है। गुण, कर्म, स्वभाव से उसकी परख होती है। देवताओं का निवासस्थल स्वर्गलोक कहा गया है। इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि जहाँ देवता निवास करते हैं, वहाँ स्वर्गीय वातावरण बन जाता है।

गायत्री को स्वर्गलोक की अधिष्ठात्री कहा गया है। उसका एक नाम कामधेनु भी है। कामधेनु का पयपान करने से देवताओं को देवत्व की प्राप्ति होती है। देवताओं के सुख–साधनों के स्रोत तीन हैं– (१) अमृत (२) पारस (३) कल्पवृक्ष। अमृत के आधार पर उन्हें आधिभौतिक और कल्पवृक्ष के आधार पर आधिदैविक संपदाओं की उपलब्धि होती है। त्रिपदा गायत्री की तात्त्विक उपासना में इन तीनों ही दिव्य वरदानों को–स्वर्गीय अनुदानों को प्राप्त कर सकना संभव बताया गया है।

अमृत का अर्थ है वह पदार्थ जिसे पीने वाला अजर–अमर बनता है। बुढ़ापा और मृत्यु उसे छोड़कर चली जाती है। नवयौवन सदा बना

रहता है तथा आनंद-उल्लास से अंत:करण सदा पुलकित बना रहता है। कहा जाता है कि यह अमृत देवलोक में है। उसे देवता पीते हैं और वह लाभ प्राप्त करते हैं, जो स्वर्गलोक के निवासियों में दिव्य शरीरधारियों में पाए जाते हैं। अमृत पदार्थ का अस्तित्व प्राणिजगत में तो नहीं ही पाया गया है। यहाँ हर वस्तु जन्मती, बढ़ती और बदलती है। बढ़ने के क्रम में ही जवानी के बाद बुढ़ापे का पल्ला बँधा है। जीर्णता को दोबारा ढालना ही परिवर्तन है। इसी को मरण कहते हैं। यह स्वाभाविक सृष्टिक्रम है। यदि अपने लोक में अक्ल रही होती तो फिर या तो नए प्राणी जन्मते ही नहीं तो काम चलता। पर यदि जन्मते तो जाते किंतु मरते नहीं तो इस धरती पर कुछ ही समय में इतने प्राणी भर जाते कि उसके खड़े होने तक को जगह नहीं बचती। फिर उन्हें निर्वाह के साधन तो मिल ही कहाँ से पाते।

अध्यात्म प्रसंगों में सदा चेतनाधाराओं की ही चर्चा होती है। जहाँ भी प्रकाश का उल्लेख हो, वहाँ जलने वाली रोशनी का नहीं, ज्ञान का ही अर्थ लिया जाता है। अमृत भी खाने-पीने की वस्तु नहीं हो सकती, वह पारस और कल्पवृक्ष की तरह कोई पदार्थ न होकर चेतना की स्थिति ही है जिसे भाव-संवेदना की दिव्य भूमिका कह सकते हैं। इस स्थिति में अपने आप को शरीर नहीं आत्मा होने की मान्यता सुदृढ़, सुनिश्चित एवं परिपक्व हो जाती है। जब अपना आपा परमात्मा के उत्तराधिकारी राजकुमार के रूप में परिलक्षित होता है तो लगभग वैसी ही मन:स्थिति बन जाती है जैसी कि परमात्मा की है। इस स्तर की आत्मानुभूति में सत्यं शिवं सुंदरम् का ही आभास मिलता है और सर्वत्र सत्, चित, आनंद का मंगलमय समुद्र लहराता दीखता है।

बुढ़ाता और मरता तो शरीर है जब अपने शरीर से भिन्न आत्मा मान ली गई तो फिर अजर-अमर होने की अनुभूति सुनिश्चित हो जाती है। पुराने कपड़े बदलकर नए पहनने में तो बच्चे तक मोद मनाते हैं फिर मृत्यु का भय आत्मज्ञानी को कैसे होगा? आत्मा तो आदिकाल

से अंत तक प्रौढ़ ही रहती है। उसके लिए न कभी बचपन है और न बुढ़ापा। दु:ख और अभाव भी शरीर को ही कष्ट देते हैं। कुबेर और इंद्र भी बढ़े-चढ़े वैभव का आनंद लेते रहते हैं। इस स्थिति को प्राप्त कर लेना मनुष्य जीवन की सर्वोच्च सफलता मानी जाती है। गायत्री उपासना में अमृतत्व की उपलब्धि की प्रेरणा, दिशा एवं सुविधा प्राप्त है इसलिए उसे कामधेनु कहा गया है। कामधेनु का दूध भी अमृत का ही एक स्वरूप माना गया है। देवता उसे पीते और धन्य बनते हैं। उसे पीने से दुर्भावनाएँ आक्रमण नहीं करतीं, ईर्ष्या-द्वेष, रोष-प्रतिशोध के कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ते। फलत: आकांक्षाओं की अशांति से सदा बचे रहते हैं। हर घड़ी मस्ती छाई रहती है। उल्लास समेटते और उमंगें बिखेरते हुए उन्हें देखा जाता है।

यह अमृतत्व और देवत्व एक ही बात है। देवताओं को मनुष्य की अपेक्षा अधिक समर्थ, संपन्न और संतुष्ट माना जाता है। सामान्य मनुष्य की तुलना में देवत्व की अंत:विशेषताओं से संपन्न व्यक्ति वस्तुत: अत्यधिक ऊँची स्थिति में होते हैं। दे देने की आकांक्षा रखना देते रहना देवताओं का धर्म है। आत्मज्ञान का अमृतत्व पीने वाले व्यक्ति उपयोग के लिए लालायित नहीं रहते। जो पास होता उसे अपने से अधिक जरूरतमंद को बाँटते रहते हैं। इस कारण स्वल्प साधन रहते हुए भी आत्मा तो अपने आप में परिपूर्ण है, उसे न किसी वस्तु की आवश्यकता है और न आकांक्षा। इसकी सही अर्थों में अनुभूति हो सके तो फिर चेहरे पर सदा तृप्ति और शांति ही छाई रहेगी। ऐसे लोग जीवन्मुक्त कहलाते हैं, पृथ्वी के देवता समझे जाते हैं और संपर्क क्षेत्र में स्वर्गिक वातावरण उत्पन्न करते हैं। अमृत तत्त्व की उपलब्धि के यही लक्षण हैं।

पारस उस पत्थर का नाम है जिसे छूने से लोहे जैसी काली-कलूटी, कुरूप और सस्ती धातु स्वर्ण बन जाती है अर्थात सुंदर, बहुमूल्य, कीमती चमकदार धातु। तथाकथित पारस का अस्तित्व संदिग्ध

है। अभी उसके कहीं पाए जाने का प्रमाण नहीं मिला है, किंतु अध्यात्म क्षेत्र का पारस पुरुषार्थ बहुत पहले से ही इस संसार में विद्यमान है। उसका संपर्क साधने वाले गई-गुजरी स्थिति को पार करके द्रुतगति से आगे बढ़ते हैं और उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचते हैं।

पुरुषार्थ का प्रथम चरण मानसिक है। उसे संकल्प, साहस, उत्साह, आशा, उमंग आदि सृजनात्मक अंत:क्षमताओं के रूप में जाना जाता है। उसी का दूसरा चरण वह है, जिसे तत्परता और तन्मयता के रूप में आँखों से प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। आलस्य और प्रमाद ही पिछड़ेपन का अभिशाप लादने वाले दुष्ट दैत्य हैं। वे जिस पर चढ़ते हैं उसे सदा दरिद्रता, आत्महीनता और तिरस्कार भरा पिछड़ा जीवन जीना पड़ता है। आलस्य-प्रमाद के उपरांत तीसरा असुर है-असंयम। असंयम इंद्रियों के स्वास्थ्य को चौपट करके रख देता है। दुर्बलता और रुग्णता से ग्रसित बनाए रहता है और अंतत: अकाल मृत्यु के मुख में धकेल देता है। अर्थ असंयम से आर्थिक कष्ट सहना ही पड़ता है। मन का असंयम उसकी सृजनशक्ति को निरर्थक कल्पना करते रहने में समाप्त कर देता है। समय का असंयम बरतने वाले अनियमित और अव्यवस्थित व्यक्ति कभी कोई महत्त्वपूर्ण काम कर ही नहीं सकते। उनके साधारण दैनिक काम भी आधे-अधूरे रहते हैं और आत्मलज्जा से लेकर दूसरे के व्यंग्य, तिरस्कार तक के आघात निरंतर सहने पड़ते हैं।

पुरुषार्थ का पारस जिसकी अंत:भूमिका में उतरता है, वह अपनी इन मलिनताओं को लात मारकर भगा देने के लिए संकल्पपूर्वक उठ खड़ा होता है। छाई हुई जड़ता को अर्द्धमूर्च्छित जैसी मन:स्थिति को झकझोरकर रख देता है। नए सिरे से जीवनचर्या बनाता है और आदतों का अभिनव निर्माण करता है। यह कायाकल्प जिस आंतरिक पुरुषार्थ के सहारे संभव होता है, उस उत्कृष्टतावादी प्रगतिशील सत्साहस को, प्रचंड बल को पारस कहा गया है। इसका जहाँ उदय होगा रुग्णता,

दुर्बलता, दरिद्रता, उदासी, अवमानना की लानतें सिर पर पैर रखकर भागती दिखाई पड़ेंगी। मनुष्य पर छाई हुई कुरूपता, दरिद्रता स्वाभाविक नहीं है। यह तो आंतरिक दुर्बलताओं की प्रतिक्रिया मात्र है। जब पुरुषार्थ जागे और आदि से अंत तक पुनूर्माण के लिए कमर बाँधकर तत्पर होगा तो वे बुरी आदतें जो शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक कठिनाइयों की मूलभूत कारण होती हैं सहज ही सुधरने लगती हैं। अपने ऊपर अपना शासन हो सके तो समझना चाहिए कि तीन-चौथाई समस्याओं का समाधान अपने आप हो गया। जो कमी रह जाती है, उसे प्रबल पुरुषार्थ की उत्पादन शक्ति सहज ही पूरा करके रख देती है।

गायत्री का शब्दार्थ है-प्राण का त्राण करने वाली। 'गाय' कहते हैं प्राण को और त्री कहते हैं त्राण करने वाली को। प्राण अर्थात पुरुषार्थ। जब आंतरिक साहस और व्यावहारिक परिश्रम का समन्वय उच्चस्तरीय उद्देश्यों के लिए जुट जाता है तो उस समन्वय के परिणाम हर क्षेत्र में चमत्कार जैसे दिखाई पड़ते हैं। पारस का महत्त्व इसीलिए है कि वह लोहे की तुच्छता को सोने की महानता में बदल देता है। आत्मिक पारस पुरुषार्थ भी ठीक वही भूमिका संपन्न करता है। गायत्री साधना से जगा हुआ आंतरिक पौरुष जब अपने अस्तित्व को नए सिरे से सुधारने, सँभालने में जुटता है तो टूट-फूट की मरम्मत करना दुर्दशाओं को शोभा-सुसज्जा में बदल देना कठिन नहीं रहता। दीपक जलने पर अँधेरा भागता है, पुरुषार्थ जगने पर अँधेरे में भटकता हुआ वर्तमान-उज्ज्वल भविष्य में परिणत होता हुआ दृष्टिगोचर होता है, इस आधार पर उत्पन्न हुई अगणित सुखद परिस्थितियों को देखकर उसे पारस स्पर्श की उपमा दी जा सकती है। गायत्री उपासना से जो प्रकाश मिलता और साहस जागता है, उसे देखते हुए कायाकल्प की, पारस की प्राप्ति कहा जाए तो उसमें अलंकारिता तो है, पर अत्युक्ति तनिक भी नहीं।

परिष्कृत व्यक्तित्व को कल्पवृक्ष के समतुल्य माना गया है। कल्पवृक्ष स्वर्ग में है। कहा जाता है कि उसके नीचे बैठकर जो भी कामना की जाती है पूर्ण होती है। यह आलंकारिक रूप में परिष्कृत व्यक्तित्व का ही वर्णन है। रहस्यमय तथ्य यही है कि ओछा व्यक्ति अपनी आंतरिक विकृतियों के कारण अपना सामान्य जीवनक्रम ओछा बनाए रहता है। उनका चिंतन निरर्थक और अनर्थमूलक विचारणाओं में उलझा रहता है। वह उन्हें सूझता ही नहीं जो मनुष्य की मौलिकता में महानता का समावेश करता है और गौरव-गरिमा को बढ़ाकर गगन-चुंबी बनाता है। श्रेष्ठता का सत्परिणाम तो असीम है, पर खराबी इतनी ही है कि वह अति निकट कुछ फासले पर रहता है। उसे विवेक-बुद्धि के सहारे ही समझ सकना संभव होता है। तुच्छ बुद्धि तो तत्काल का लाभ ही देखती है और जाल में फँसने वाले पक्षी की तरह आटे की गोली के लिए जान गँवाने वाली मछली की तरह, चासनी में पिल पड़ने वाली मक्खी की तरह बेमौत मरने के सरंजाम खड़े करती है। यही है भूल-भुलैयों का खेल जिसका अनभिज्ञ आनंद लेते और अनगढ़ बेहिसाब उलझते और सिर धुनते देखे जाते हैं। गायत्री को सद्बुद्धि की देवी कहा गया है। यदि उसकी वास्तविक रूप में साधना की जा सके तो ईश्वर के दरबार में साधक को सद्बुद्धि का वरदान मिलता है। उस वरदान का प्रथम प्रभाव परिष्कृत व्यक्तित्व के रूप में सामने आता है। जिसे इतनी सफलता मिल गई समझना चाहिए उसे कल्पवृक्ष की छाया में बैठने और आप्तकाम होने का सौभाग्य मिल गया। देवता आप्तकाम कहलाते हैं। उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण रहती हैं। उन्हें अभावजन्य कभी कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता। इसी स्थिति को कल्पवृक्ष की सिद्धि कहा गया है।

मनुष्य जीवन की आवश्यकताएँ बहुत स्वल्प हैं। उसका पेट छोटा और हाथ तथा मस्तिष्क का मिला-जुला उत्पादन इतना अधिक है कि थोड़े से समय एवं श्रम से शारीरिक आवश्यकताएँ सहज पूरी ही

रह सकती हैं। औसत भारतीय का निर्वाह स्तर स्वीकार हो और प्रस्तुत परिवार का उचित परिपोषण ही पर्याप्त माना जाए तो अनावश्यक कामनाओं का बोझ सिर पर चढ़ेगा और उन्हें पूरा करने के लिए उचित-अनुचित रास्ते अपनाने एवं निरंतर चिंतित रहने की आवश्यकता पड़ेगी। यों आवश्यकताएँ तो मानवी पुरुषार्थ से अत्यंत सरलतापूर्वक पूरी होती रहती हैं। निरर्थक कामनाएँ बढ़ाते चलना और उसको तुरत-फुरत पूरी करने के लिए व्याकुल रहना, यही है मनोकामनाओं का जंजाल जिसके लिए अनगढ़ लोग निरंतर आकुल-व्याकुल रहते और देवी-देवताओं के सामने नाक रगड़ते देखे जाते हैं। देवबुद्धि के देवता लोग इस जंजाल से बचते हैं। सद्बुद्धि का आश्रय लेकर वे अपनी कामनाओं को सीमित करते और जो उचित हैं उनकी पूर्ति प्रबल पुरुषार्थ के सहारे सरलतापूर्वक करते रहते हैं। ऐसी दशा में उनका आप्तकाम बने रहना कल्पवृक्ष की छाया तले निवास करने जैसा आनंद लेना सहज स्वाभाविक है। संक्षेप में सद्बुद्धि को ही कल्पवृक्ष समझा जाना चाहिए। गायत्री उपासना का मूल प्रयोजन यही है। उसका अनुग्रह जो जितनी मात्रा में प्राप्त कर लेता है, वह कामनाजन्य शोक-संतापों से सहज ही छुटकारा पा लेता है। वह निश्चिंत रहता, निर्द्वंद्व विचारता और शांतिपूर्ण जीवनयापन करता है।

❐

गायत्री और ब्रह्मवर्चस्

जीव को तीन भव बंधनों में बँधा हुआ माना गया है। हाथों में हथकड़ी, पैरों में बेड़ी और कमर में रस्सी से बँधे हुए चोर-तस्कर इधर से उधर ले जाए जाते हैं। घोड़े के पैरों में पिछाड़ी, गले में रस्सी और मुँह में लगाम लगी होती है। भव बंधन भी वासना, तृष्णा और अहंता के तीन ही हैं। इन्हीं के कारण निरंतर खिन्न उद्विग्न रहना पड़ता है। इन तीन के अतिरिक्त मानव जीवन में अशांति छाई रहने का और कोई कारण नहीं। इन्हीं को काम, क्रोध, लोभ कहा गया है। इन्हीं तीनों के सम्मिश्रण से अनेकों प्रकार के मनोविकार उठते हैं और उन्हीं की प्रेरणा से अनेकानेक पाप कर्म बन पड़ते हैं। इन तीनों बंधनों को खोला-काटा जा सके तो समझना चाहिए बंधन-मुक्ति का सौभाग्य बन गया। साधना विज्ञान में इन तीन बंधनों के खुलने पर तीन दिव्यशक्तियों के दर्शन एवं अनुग्रह का लाभ मिलने की बात कही गई है। बंधन की स्थिति ही कष्टकारक है। इनके खुलने पर ही आनंद है। अंतर्गत की दिव्य संपदाओं के अलौकिक सिद्धि भंडार पर यही तीन ताले जड़े हुए हैं। उनके खुलने पर वह सब कुछ उपलब्ध होता है जो परम पिता ने अपने राजकुमार को जीवन यात्रा पर भेजते समय आवश्यक साधनों के रूप में साथ ही बाँधकर रख दिया है। यह पाथेय गुम जाने के कारण ही अभावों, विक्षोभों और संकटों भरा जीवन जीना पड़ता है। इन्हें खोज निकालने-तिजोरी खोलकर उपयोग में ला सकने का अवसर प्राप्त करना ही ग्रंथिभेद की साधना है।

साधना विज्ञान के तत्त्वदर्शी वैज्ञानिकों ने तीन ग्रंथियों का विस्तृत विवेचन एवं निरूपण किया है। उन्हें खोलने के साधन एवं विधि-विधान बनाए हैं। उनके नाम हैं-ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रंथि और रुद्रग्रंथि। रुद्रग्रंथि का स्थान नाभि स्थान माना गया है। इसे अग्निचक्र भी कहते हैं। माता के शरीर से बालक के शरीर में जो रस, रक्त प्रवेश करता है उसका स्थान यह नाभि स्थान ही है। प्रसव के उपरांत नाल काटने पर ही माता और संतान के शरीरों का संबंध विच्छेद होता है। इस नाभिचक्र द्वारा ही विश्व-ब्रह्मांड को वह अग्नि प्राप्त होती रहती है जिनके कारण शरीर को तापमान मिलता और जीवन बना रहता है। स्थूलशरीर

को प्रभावित करने वाली प्राण क्षमता का केंद्र यही है। शरीरशास्त्र के अनुसार अध्यात्मशास्त्र के सूक्ष्म विज्ञान के अनुरूप प्राण धारण का केंद्र यही है। कुंडलिनी शक्ति इसी नाभिचक्र के पीछे अधोभाग में अवस्थित है। मूलाधार चक्र का मुखद्वार नाभि स्थान में है और अधोभाग में मल-मूत्र छिद्रों के मध्य केंद्र में। इस केंद्र के जागरण-अनावरण का जो विज्ञान विधान है, वह त्रिपदा गायत्री के प्रथम चरण का क्षेत्र समझा जा सकता है।

दूसरी ग्रंथि है विष्णुग्रंथि। यह मस्तिष्क के मध्य ब्रह्मरंध्र में है। आज्ञाचक्र, द्वितीय नेत्र इसी को कहते हैं। पिट्यूटरी और पीनियल हारमोन ग्रंथियों का शक्तिचक्र यहीं बनता है।

मस्तिष्क के खोखले को विष्णुलोक भी कहा गया है। इसमें भरे हुए भूरे पदार्थ को क्षीर सागर की उपमा दी गई है। सहस्रारचक्र को हजार फन वाला शेष सर्प कहा गया है। जिस पर विष्णु भगवान सोए हुए हैं। ब्रह्मरंध्र की तुलना पृथ्वी के ध्रुव प्रदेश से की गई है। अनंत अंतरिक्ष में अंतर्गृही प्रचंड शक्तियों की वर्षा निरंतर होती रहती है। ध्रुवों में रहने वाला चुंबकत्व इस अंतर्गृही शक्ति वर्षों में से अपने लिए आवश्यक संपदाएँ खींचता रहता है। पृथ्वी के वैभव की जड़ें इसी ध्रुव प्रदेश में हैं। वहाँ से उसे आवश्यक पोषण निखिल ब्रह्मांड की संपदा में से उपलब्ध होता रहता है। ठीक इसी प्रकार मानवी काया एक स्वतंत्र पृथ्वी है। उसे अपनी अति महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं को पूरा करने का अवसर इसी ब्रह्मरंध्र के माध्यम द्वारा उपलब्ध होता है। यह ध्रुव प्रदेश अवरुद्ध रहने से मूच्छित स्थिति में पड़े रहने से सूक्ष्म जगत के अभीष्ट अनुदान मिल नहीं पाते और पिछड़ेपन की आत्मिक दरिद्रता छाई रहती है। विष्णुग्रंथि के जाग्रत होने पर वह द्वार खुलता है जिससे दिव्य अनुदानों की अभीष्ट मात्रा आकर्षित और उपलब्ध की जा सके।

मस्तिष्क का बहुत थोड़ा अंश प्रायः सात प्रतिशत ही जाग्रत होता है, उसी से तथाकथित विद्वता, बुद्धिमानी आदि की ज्ञान-संपदा से जिंदगी की गाड़ी घसीटी जाती है। शेष ९३ प्रतिशत ज्ञान संस्थान प्रसुप्त स्थिति में पड़ा है। उसी को विष्णु भगवान का शेष शय्या शयन कहा गया है। इस क्षेत्र के बंद कपाट खोले जा सकें और उस अँधेरी कोठरी में प्रकाश पहुँच सके तो वहाँ की रत्नराशि टटोली और काम में

लाई जा सकती है, अतींद्रिय ज्ञान का केंद्र उसी प्रसुप्त संस्थान में छिपा पड़ा है। दूर दर्शन, दूर श्रवण, भविष्य ज्ञान, विचार संचालन, प्राण प्रहार आदि अनेक योग और तत्त्व में वर्णित शक्तियों का निवास इसी क्षेत्र में है। सिद्धियों की चौसठ योगिनियाँ यहीं समाधिस्थ बनकर लेटी हुई हैं। उन्हें यदि जगाया जा सके तो मनुष्य सहज ही सिद्धपुरुष बन सकता है। उसकी अविज्ञात क्षमता विकसित होकर देव तुल्य समर्थता का लाभ दे सकती है।

बुद्धिमत्ता प्राप्त करने के लौकिक उपाय शिक्षा, स्वाध्याय, अनुभव, अभ्यास, परामर्श आदि हैं। यह साधन जिसे जितनी मात्रा में मिल जाते हैं, वह उतना ही बुद्धिमान, विद्वान बन जाता है। यह सर्वविदित उपाय हुए। सूक्ष्म विज्ञान के अनुसार रहस्यमय उपाय मस्तिष्कीय क्षेत्र की ध्यान-धारणा तथा दूसरे साधनात्मक उपाय-उपचारों से विशाल क्षेत्र की ढूँढ़-खोज की जा सकती है और उस अन्वेषण का असाधारण लाभ उठाया जा सकता है। कोलंबस ने अमेरिका महाद्वीप खोज निकाला तो यूरोप निवासियों ने उसका पूरा-पूरा लाभ उठाया, वैज्ञानिक शोधों का लाभ समस्त मानव जाति उठा रही है। मनःसंस्थान की सुनिश्चित संपदाओं को खोजना नहीं पड़ता, उन्हें जगाने भर की मेहनत करनी पड़ती है। इसी प्रयास को विष्णुग्रंथि खोलने की साधना कहते हैं।

भ्रांतियों का जंजाल ही माया बंधन है। तरह-तरह के कुसंस्कार, भ्रम, कुविचार ही मन को भटकाते और कुमार्ग पर चलने के लिए बहकाते हैं। मृगतृष्णा में भटकने और कस्तूरी को खोजने मारे-मारे फिरने वाले हिरन जैसी ही मूर्खता अपना मन भी करता रहता है। जाल में फँसने वाले पक्षी, काँटे में गला फँसाने वाली मछली की तरह मन भी सस्ते प्रलोभन में आतुरतापूर्वक टूट पड़ता और भारी विपत्ति में फँसता है। सारा शहद एक साथ खा जाने के लिए व्याकुल मक्खी अपने पंखों को फँसा बैठती है और सस्ते लाभ के बदले प्राणघातक संकट उठाती है। ऐसी ही दुर्गति भ्रमग्रसित मन की होती है। यदि जीवन का स्वरूप और लक्ष्य समझने में भूल न हो तो सामान्य स्थिति का मनुष्य भी महामानवों के स्तर तक पहुँच सकता है। भ्रम ही है जो मनुष्य को पथभ्रष्ट करता और उसके अनुपम सौभाग्य को व्यर्थ की

बरबादी में नष्ट करता है। इस विपत्ति से छुटकारा मिल सकने के साधनात्मक उपाय को विष्णुग्रंथि खोलना कहते हैं। यह द्वार खुल जाने पर अनंत आकाश में बिखरी पड़ी बहुमूल्य ज्ञान-संपदा को बटोर लेना भी सहज संभव हो सकता है। सामान्य शिक्षा से जितना जिस स्तर का ज्ञान-संपादन किया जाता है, उसकी तुलना में कहीं ऊँचा और कहीं अधिक सुविस्तृत, परिष्कृत ज्ञान जाग्रत मन:संस्थान से अनायास ही उपलब्ध किया जा सकता है। विष्णुग्रंथि के जागरण से मिलने वाली सफलता के अनुपात में इस प्रकार के अनेकों दिव्य ज्ञान-साधना प्रयोगों द्वारा सहज ही उपलब्ध होने लगते हैं। त्रिपदा गायत्री का दूसरा चरण विष्णुग्रंथि खुलने से संबंधित है।

त्रिपदा का तीसरा चरण ब्रह्मग्रंथि से संबंधित है। इसका स्थान हृदयचक्र माना गया है। इसे ब्रह्मचक्र भी कहते हैं। ब्रह्म परमात्मा को कहते हैं। भावश्रद्धा, संवेदना एवं आकांक्षाओं का क्षेत्र यही है। शरीर शास्त्र के अनुसार भी रक्त का संचार एवं संशोधन करने वाला केंद्र यही है। इस धड़कन को ही पेंडुलम की खट-खट की तरह शरीररूपी घड़ी का चलना माना जाता है। अध्यात्मशास्त्र की मान्यता इससे आगे की है। उसके अनुसार हृदय की गुहा में प्रकाश ज्योति की तरह यहाँ आत्मा का निवास है। परमात्मा भाव रूप में ही अपना परिचय मनुष्य को देते हैं। श्रद्धा और भक्ति के शिकंजे में ही परमात्मा को पकड़ा जाता है। यह सारा मर्मस्थल यही है। किसी तथ्य का हृदयंगम होना, किसी प्रियजन का हृदय में बस जाना जैसी उक्तियों से यह प्रतीत होता है कि आत्मा का स्थान निरूपण इसी क्षेत्र में किया गया है। उर्दू का प्रसिद्ध शेर है-दिल के आइने में है तसवीरे यार की, जब जरा गरदन झुकाई देख ली।

हृदयचक्र ब्रह्मग्रंथि है। वहाँ से भावनाओं का-आकांक्षा अभिरुचि का परिवर्तन होता है। जीवन की दिशाधारा बदलती है। वाल्मीकि, अंगुलिमाल, आम्रपाली, विल्वमंगल, अजामिल आदि का प्रत्यावर्तन-हृदय-परिवर्तन ही उन्हें कुछ से कुछ बना देने में समर्थ हुआ। जीवन का समग्र शासन सूत्र इन्हीं आकांक्षाओं से संचालित होता है। आकांक्षाएँ-विचारों को निर्देश देती हैं और मन:संस्थान को अपनी मरजी पर चलाती हैं। मन के अनुसार शरीर चलता है। शरीर कर्म करता है। कर्म

के अनुरूप विचार, परिणाम और परिस्थितियाँ सामने आती हैं। परिस्थितियों में सुधार करना अभीष्ट हो तो कर्म ठीक करने होंगे। शरीर पर कर्म नियंत्रण मस्तिष्क का और मस्तिष्क का अधिपति हृदय है। प्रियतम को हृदयेश्वर और हृदयेश्वरी कहा जाता है। मानवी सत्ता पर स्वामित्व हृदय का ही है।

इस स्थान पर जो शक्तिचक्र काम करते हैं, उन्हीं के कारण सूक्ष्मजगत से महत्त्वपूर्ण अनुदान प्राप्त करने का अवसर मिलता है और यहाँ से अंतर्जगत की कुरेद-बीन का सिलसिला चलता है। यह हृदयग्रंथि जाग्रत होने पर महान जागरण की सर्वतोमुखी प्रक्रिया संपन्न होती है।

तेज प्रवाह में बहती हुई नदी के मध्य जो भँवर पड़ते हैं, उनकी शक्ति सामान्य प्रवाह की तुलना में सैकड़ों गुनी अधिक होती है। सुदृढ़ नावों, जहाजों और मल्लाहों को भँवर में फँसकर डूबते देखा गया है। हवा गरम होने पर चक्रवात उठते हैं। उनकी तूफानी शक्ति देखते ही बनती है। मजबूत छत, छप्पर, पेड़ और मकानों को वे उठाकर कहीं से कहीं पटक देते हैं। रेत को आसमान में छोड़ते हैं और आँधी-तूफान के बवंडर उठकर अपने प्रभावक्षेत्र को बुरी तरह अस्त-व्यस्त कर देते हैं। ऐसे ही कुछ चक्रवात केंद्र-भँवर चक्र अपने शरीर में भी हैं। उनकी गणना षट्चक्रों के नवचक्रों के रूप में की जाती है। छोटे चक्र और भी हैं, जिनकी गणना १०८ तक की गई है। इन सबमें तीन प्रधान हैं। इन्हें रुद्रग्रंथि, विष्णुग्रंथि और ब्रह्मग्रंथि कहा गया है। ये तीनों परस्पर भी जुड़े हुए हैं और सूक्ष्म जगत के साथ आदान-प्रदान का सिलसिला भी बनाए हुए हैं। स्थूलशरीर नाभिचक्र के नियंत्रण में है। सूक्ष्मशरीर पर आज्ञाचक्र का, कारणशरीर पर हृदयचक्र का आधिपत्य है। ताले खोलने, चाबी डालने के छिद्र यही तीन हैं। योगाभ्यास से इन्हीं की साधना को रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा की साधना माना गया है। इसी समूचे सत्ता क्षेत्र को त्रिपदा गायत्री की परिधि कहा गया है।

गुणों की दृष्टि से त्रिपदा को निष्ठा, प्रज्ञा और श्रद्धा कहा गया है। निष्ठा का अर्थ है-तत्परता-दृढ़ता। प्रज्ञा कहते हैं-विवेकशीलता, दूरदर्शिता को, श्रद्धा कहते हैं आदर्शवादिता और उत्कृष्टता को। कर्म

के रूप में निष्ठा, गुण के रूप में प्रज्ञा और स्वभाव के रूप में श्रद्धा की सर्वोपरि गरिमा है। स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरों के परिष्कार का परिचय इन्हीं तीनों के आधार पर मिलता है। गुण, कर्म, स्वभाव ही किसी व्यक्तित्व की उत्कृष्टता, निकृष्टता के परिचायक होते हैं।

त्रिपदा का एक पक्ष सृजनात्मक है, दूसरा ध्वंसात्मक। एक आध्यात्मिक है, दूसरा भौतिक। अध्यात्म के सृजन पक्ष को गायत्री कहते हैं और भौतिक विज्ञान पक्ष को सावित्री। अवांछनीयताओं के निराकरण का उत्तरदायित्व भी सावित्री का है। पौराणिक गाथा के अनुसार ब्रह्मा जी की इन्हें दो पत्नियाँ माना गया है। सृजन पक्ष के रूप में त्रिपदा की चर्चा अधिक हुई है। श्रुति ने **'असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय-मृत्योर्मामृत गमय'** के रूप में त्रिपदा के तीन चरणों की अभ्यर्थना की है और तृप्ति, तुष्टि एवं शांति का वरदान माँगा है।

दूसरे सावित्री पक्ष की चर्चा कम ही हुई है, पर है वह भी महत्त्वपूर्ण। खेत जोतने से लेकर फसल पकने तक की प्रक्रिया लंबी और समयसाध्य है। काटने का काम तो दो-चार दिन में ही पूरा हो जाता है। शरीर के परिपोषण में ही अधिक समय लगता है। बीमार पड़ने पर सुई लगाने, ऑपरेशन होने का काम तो यदा-कदा ही होता है। मित्रता निर्वाह में ही जीवन का अधिकांश भाग बीतता है। शत्रु से लड़ने के अवसर तो थोड़े ही आते हैं। भौतिक उपार्जन और उपभोग के लिए तो काया अपने आप ही काम करती रहती है। संतुलन बनाने के लिए आध्यात्मिक प्रयत्नों पर ही जोर देना पड़ता है। ऐसे ही अनेक कारणों से त्रिपदा के गायत्री पक्ष का ही विवेचन और विधान शास्त्रकारों ने विस्तारपूर्वक बताया है। यह दक्षिण मार्ग है, इसे देवयान भी कहते हैं। यह देवत्व का लक्ष्य प्राप्त कराती है।

त्रिपदा का वाम मार्ग तंत्र है। उसे अपनाने से भौतिक पक्ष सुदृढ़ होता है। दैत्य शब्द वैभव, बड़प्पन, विस्तार बल का बोधक है। पुराणों में दैत्यों की भौतिक और देवताओं की आत्मिक शक्ति का वर्णन है। दूरदर्शी ऋषि गायत्री की उपासना करते थे और भौतिक लाभों के लिए लालायित को वाममार्गी साधना करनी पड़ती थी। देवपक्ष के आचार्य बृहस्पति थे। दैत्यपक्ष का प्रशिक्षण शुक्राचार्य करते थे। तप साधना

दोनों को ही करनी पड़ती थी। ऋषि और देवताओं का सात्त्विक तप होता था और दैत्यों का तामसिक। रावण, कुंभकरण, मेघनाद, मारीच, हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, भस्मासुर, वृत्रासुर, सहस्त्रबाहु, महिसासुर आदि अनेक दुर्दांत दैत्यों के वैभव और पराक्रमों का वर्णन पुराणों में मिलता है। यह सावित्री पक्ष की उपासना का परिणाम है।

दुष्टता को निरस्त करने के लिए आक्रामक अस्त्र के रूप में त्रिपदा के सावित्री पक्ष का प्रयोग होता है। इस प्रकार के प्रयोग-उपचार को ब्रह्मास्त्र कहते हैं। मेघनाद के पास ऐसी ही ब्रह्मशक्ति थी जिसे उसने लक्ष्मण जी के विरुद्ध प्रयुक्त किया था। तंत्र ग्रंथों में ब्रह्मास्त्र का उल्लेख ब्रह्मशाप, ब्रह्मदंड के रूप में भी हुआ है। इसका उपयोग दुष्टता के विरुद्ध किए जाने के कितने ही उल्लेख इतिहास, पुराणों में मिलते हैं। शृंगी ऋषि ने परीक्षित को, श्रवण कुमार के पिता ने दशरथ को, गौतम ने इंद्र को, गांधारी ने कृष्ण को, कपिल ने सगर-सुतों को, ऋषियों का नहुष को शाप देने के उपाख्यान सर्वविदित हैं। वरदानों की तरह शापों का भी सुविस्तृत इतिहास है। मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, स्तंभन आदि के तांत्रिक प्रयोगों का विवरण एवं विधान गायत्री तंत्र एवं अन्यान्य ग्रंथों में संकेत रूप से दिया गया है। विस्तारपूर्वक उसे इसलिए नहीं लिखा गया कि अनधिकारी व्यक्ति उसे स्वार्थ-सिद्धि के लिए अनीतिपूर्वक प्रयुक्त कर सकते हैं। रिवाल्वर आदि के लाइसेंस हर किसी को नहीं मिलते। प्रामाणिक व्यक्तियों को ही उन्हें रखने की आज्ञा मिलती है। ठीक इसी प्रकार तांत्रिक प्रयोगों की शिक्षा सर्वसुलभ नहीं की गई है। किंतु है वह भी त्रिपदा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष। गायत्री का ज्ञानपक्ष ब्रह्मविद्या कहलाता है और विज्ञान पक्ष ब्रह्म तेजस्। दोनों के समन्वय से ब्रह्मवर्चस् शब्द बना है। इसमें आत्मज्ञान और आत्मबल दोनों का समन्वय कर सकते हैं। अथर्ववेद में गायत्री विद्या की सात सिद्धियाँ गिनाई गई हैं। सबसे अंतिम सोपान ब्रह्मवर्चस् कहा गया है। उसकी उपलब्धि के लिए जो संतुलित यात्रा करनी पड़ती है, उसमें दक्षिण और वाम मार्ग का-ब्रह्मयोग और तंत्रयोग दोनों का समन्वय सम्मिलित है। इसी से उसे पूर्ण योग की संज्ञा दी गई है।

❐

सोद्देश्य कर्मकांड—फलदाई परिणतियाँ

ज्ञान क्षेत्र में गायत्री एकमुखी और विज्ञान क्षेत्र में पंचमुखी है। एकमुखी का तात्पर्य है–अंत:करण के परिष्कार के लक्ष्य पर अर्जुन के मत्स्य वेधन जैसी एकाग्रता और एकलव्य जैसी गुरुवरण की अखंड निष्ठा। लक्ष्यप्राप्ति का यही एकमात्र उपाय है। इसके अवलंबन की प्रेरणा देने वाली एकमुखी गायत्री है। इसमें जीवन लक्ष्य और उसके धारा प्रवाह का दिशा निर्धारण है।

पंचमुखी गायत्री में उपासना के समय काम में आने वाले वे सूत्र हैं जो कक्षा के अनुरूप पाँच-पाँच विषयों में विभाजित हैं। सार्वजनीन सार्वभौम प्राथमिक उपासना के पाँच भाग हैं–(१) आत्मशोधन (२) देव पूजन (३) जप (४) ध्यान (५) सूर्यार्घ्य दान।

उच्चस्तरीय गायत्री उपासना में पंचकोशों का अनावरण है। सूक्ष्म शरीर में पाँच ऐसे रत्नकोश हैं जिनमें विभूतियों और संपत्तियों के विपुल भांडागार भरे पड़े हैं। इन पाँचों को अन्नमयकोश, प्राणमय-कोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश और आनंदमयकोश कहते हैं। यह पाँचों सामान्यतया प्रसुप्त स्थिति में पड़े रहते हैं। किंतु प्रयत्नपूर्वक इन्हें जगाया जाता है तो वे कुंभकरण की तरह अपने प्रबल पराक्रम का परिचय देते हैं। जाग्रत स्थिति में वे प्रसिद्ध पाँच देवों के अनुग्रह से मिलने वाली सिद्धि वर्षा की तरह साधक को सामान्य से असामान्य बना देते हैं। कुंडलिनी जागरण भी उच्चस्तरीय गायत्री उपासना का ही एक विशिष्ट पक्ष है। उसमें भी पाँच साधना तपश्चर्याएँ की जाती हैं। कठोपनिषद् के यम-नचिकेता संवाद में इसी साधना विज्ञान का पंचाग्नि विद्या के नाम से वर्णन है। उन प्रयोगों को किस प्रकार कार्यान्वित किया जाता है, इसकी चर्चा प्रसंग के अनुसार की जाएगी। इन पंक्तियों में तो सार्वजनीन-सर्वसुलभ गायत्री उपासना के पाँच प्रकरणों की चर्चा ही अभीष्ट है।

जिन पाँचों उपचारों के सहारे सामान्य और प्राथमिक उपासना को आरंभ किया जाता है। उनमें प्रथम है–आत्मशोधन। आत्मशोधन के लिए पाँच कृत्य किए जाते हैं–(क) पवित्रीकरण (ख) आचमन (ग) प्राणायाम (घ) न्यास (ङ) शिखा बंधन।

पवित्रीकरण में बाएँ हाथ की हथेली पर जल रखकर उसे दाहिने हाथ से ढकते और मंत्र पाठ करते हैं। इसके उपरांत जल को समस्त शरीर पर छिड़क लिया जाता है। इसमें भावना की जाती है कि इस मंत्र पूत जल के साथ विश्व–ब्रह्मांड में संव्याप्त पवित्रता की हमारे ऊपर वर्षा हो रही है। फुहारे के नीचे बैठकर स्नान करने की तरह उस अमृत वर्षा का आनंद लिया जा रहा है। पवित्रता शरीर के भीतर प्रवेश होकर चेतना के समस्त घट को पवित्र बना रही है।

आचमन में मंत्रपूर्वक तीन बार तीन चमची जल मुख में डाला जाता है। इसका तात्पर्य है–क्रियाशक्ति, विचारशक्ति और भावशक्ति का परिमार्जन। इन तीनों ही चेतना केंद्रों में शांति, शीतलता, सात्त्विकता एवं पवित्रता का समावेश है। विशेषतया जिह्वा की पवित्रता इन आचमनों द्वारा विशेष रूप से आवश्यक बताई गई है। सात्त्विक न्यायोपार्जित आहार ग्रहण करने से मन पवित्र होता है। सत्य और शालीनता संपन्न वाणी से जिह्वा में प्रखरता बनी रहती है। आहार और उच्चारण के संबंध में सतर्क रहने से जिह्वा में वह शक्ति उत्पन्न होती है कि पवित्र वाणी से किया गया जप ही सफल होता है। यह सिद्धांत इस आचमन प्रक्रिया के अंतर्गत समझाया गया है।

प्राणायाम में साँस को भीतर खींचना, रोकना, बाहर निकालना और बाहर ही रोकना–यह चार क्रियाएँ मंत्रपूर्वक की जाती हैं। इन चार क्रियाओं को क्रमशः पूरक, अंतःकुंभक, रेचक और बाह्य कुंभक कहते हैं। साँस खींचते समय भावना की जाती है कि निखिल अंतरिक्ष में वायुतत्त्व के साथ घुला हुआ चेतन प्राणतत्त्व भीतर प्रवेश करता है और दिव्यशक्ति से काया के कण–कण को भर देता है। साँस रोकते समय भावना करनी चाहिए कि उस खींची हुई दिव्य प्राणशक्ति को शरीर के अवयवों, रक्त कणों एवं चेतना संस्थानों द्वारा सोखा और

सदा-सर्वदा के लिए भीतर धारण किया जा रहा है। साँस निकालते समय भावना करनी चाहिए कि स्थूल और कारण शरीरों के मल आवरण, विक्षेप, कषाय-कल्मष, निकाल बाहर किए जा रहे हैं। बाहर साँस रोकते समय भावना की जाती है कि बहिष्कृत विकारों को वापस न लौटने देने के लिए सदा के लिए प्रवेश द्वारा बंद कर दिया गया है। तीन बार इसी प्रकार तीन प्राणायाम किए जाते हैं और उनमें तीनों बार उन्हीं भावनाओं की पुनरावृत्ति की जाती है।

न्यास में बाएँ हाथ की हथेली पर जल रखा जाता है। दाहिने हाथ की पाँचों उँगलियों को इकट्ठी करके उन्हें जल में डुबाते और मंत्रपूर्वक क्रमशः मुख, नासिका, नेत्र, भुजाओं और जंघाओं से लगाते हैं। शेष जल का समस्त शरीर पर छिड़काव कर देते हैं। जिन इंद्रियों पर यह जल स्पर्श किया जाता है, उनमें पवित्रता एवं सशक्तता भरे जाने की भावना परिपक्व करते हैं।

शिखा बंधन में शिखा स्थान का जल से स्पर्श किया जाता है। यह सद्भावना, उत्कृष्टता एवं ऋतंभरा प्रज्ञा की अधिष्ठात्री गायत्री माता की शरीर के सर्वोच्च शिखर पर प्राण प्रतिष्ठापना है। इसे किले पर लगे झंडे का अभिवादन कहना चाहिए। इसे विवेक बुद्धि का भाव भरा अभिनंदन भी कहा जा सकता है।

दूसरा चरण है देव पूजन-गायत्री माता की छवि को देवत्व के प्रतीक-प्रतिनिधि के रूप में पूजा वेदी पर स्थापित करते हैं। देवता के प्रति श्रद्धांजलि प्रस्तुत की जाती है। उन्हें कुछ देते हैं, इसी अनुदान के प्रतिदान में देव अनुग्रह प्राप्त होता है। देवता देते हैं। उन्हें वे भी प्रिय होते हैं जो देने की गरिमा स्वीकार करते हैं और उसका ही शुभारंभ अपने आप से करते हैं। बीज गलने को तैयार होता है तो धरती माता उसे पोषण देकर विशालकाय वृक्ष बनने का वरदान एवं अनुदान प्रदान करती है। यही नीति देवताओं की भी है। वृक्ष अपने फल दूसरों को देते हैं। भेड़, बकरी भी ऊन दूसरों को देती हैं। नदियाँ अपना जल दूसरों को पिलाती हैं। इसी देव प्रकृति को अपनाए जाने पर प्रसन्न होकर देवता उन्हें अधिकाधिक अनुग्रह देते चले जाते हैं। कृपणता

बरतने वाले अनुदार स्वार्थपरायणों के प्रति देवता भी निष्ठुर ही बने रहते हैं। इस तथ्य को ठीक तरह हृदयंगम करने के लिए पूजा की चौकी पर स्थापित गायत्री प्रतिमा के सम्मुख साधक को पंचोपचार के रूप में पाँच प्रतिवेदन प्रस्तुत करने होते हैं। इससे यह आत्मशिक्षण मिलता है कि समर्थ देवताओं का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए क्या रीति-नीति अपनानी होगी। जीवनचर्या निर्धारण में किस स्तर की गतिविधियों का समावेश करना होगा?

पंचोपचार में पाँच वस्तुएँ प्रयुक्त होती हैं-(अ) जल (ब) चावल (स) पुष्प (द) दीपक (य) चंदन, रोली। इन पाँचों को उन नीतियों का प्रतीक माना जाना चाहिए जिन्हें अपनाने वाले पर देवता बिना माँगे ही अपना उदार अनुदान निरंतर बरसाते रहते हैं।

(अ) जल-यह शीतलता, शांति, नम्रता, विनय एवं सज्जनता का प्रतीक है। सत्प्रयोजनों के लिए समय लगाने श्रमबिंदु समर्पित करने की तैयारी करनी चाहिए। पाद्य अर्द्ध, आचमन, स्नान में निमित्त देवता को जो चार बार में चार चम्मच जल चढ़ाया जाता है उसका तात्पर्य है-श्रम, समय, मनोयोग एवं धन साधन की चारों उपलब्धियों को यथासंभव अधिकाधिक मात्रा में ईश्वरीय प्रयोजनों के लिए समर्पित करना।

(ब) चावल-उपार्जित अन्न धन, वैभव का प्रतीक है। उपार्जन को शरीर परिवार के उपयोग भर में सीमित नहीं किया जाना चाहिए वरन उसमें देश, धर्म, समाज, संस्कृति की भी भागीदारी स्वीकार करनी चाहिए। इनके लिए अपने-अपने साधनों का अंशदान नियमित रूप से किया जाना आवश्यक है। यह प्रेरणा देवता के सम्मुख अक्षत अर्पण करने की विधि के साथ जुड़ी हुई है।

(स) पुष्प-अर्थात खिलने-खिलाने, हँसने-हँसाने की हलकी-फुलकी जिंदगी और सद्भाव संपन्न सज्जनता की सत्प्रवृत्ति। भीतर और बाहर से सर्वांग सुंदर बने विश्व उद्यान को शोभायमान बनाने वाला जीवन जिए। देवत्व की शोभा बढ़ाने के लिए अपनी गरदन नुचवाने और मर्मभेदी सुई से छेदा जाना भी स्वीकार करे। प्रभु के गले

का हार बनने की आकांक्षा रखे। पुष्प समर्पण के साथ इसी नीति को अपनाने का आत्मशिक्षण सन्निहित है।

(द) दीपक–अर्थात स्नेह से, चिकनाई से भरा-पूरा स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश देने वाला जीवन। दीपक की लौ की भाँति ऊर्ध्वगामी दृष्टि एवं नीति, अंधकार अज्ञान के विरुद्ध साँस रहने तक संघर्ष। प्रकाश-अभिवर्द्धन के लिए समग्र आत्मसमर्पण। स्वयं प्रकाशवान रहना और दूसरों को प्रकाश देना यही है-दीप धर्म। इसे अपनाकर ही कोई साधक भगवान के मंदिर में प्रवेश करने का, उनकी समीपता का श्रेय पाने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। इस तथ्य को साधक ठीक तरह समझ सके। इसी निमित्त देव प्रतिमा के समीप दीपक जलाया जाता है। अगरबत्ती, धूपबत्ती, अग्नि स्थापना भी प्रकारांतर से दीपक का ही प्रयोजन पूरा करते हैं।

(य) चंदन–वह वृक्ष जिसका कण-कण सुगंधित है और जो सभी पर्वतीय झाड़-झंखाड़ों को भी सुगंधित करता है। अपनी शीतलता से साँप, बिच्छू जैसे विषदंश वालों तक को शांति प्रदान करता है। उसकी छाया में बैठने वाले सुगंध भरी शीतलता प्राप्त करते हैं। चंदन की लकड़ी काटने, बेचने वाले-पत्थर पर घिसकर कष्ट देने वाले तक प्रतिशोध नहीं उपकार ही पाते हैं। नष्ट होते-होते भी चंदन अपनी लकड़ी से भजन करने की माला, हवन-सामग्री, चंदन चूरा आदि उपयोगी सामग्री दे जाता है। हमारी शक्ति एवं सामर्थ्य का उपयोग भी इसी प्रकार होना चाहिए। यही है चंदन समर्पण के पीछे सन्निहित प्रेरणा जिसे अपनाकर कोई भी सच्चा ईश्वर भक्त बना रह सकता है और भक्तों को मिलने वाले अनुदानों का अधिकारी बन सकता है।

आत्मशोधन में व्यक्तित्व को पवित्र परिष्कृत बनाने का भाव है और देवपूजन में सदुद्देश्यों के लिए अधिकाधिक अनुदान देने का, उत्साह उत्पन्न करने का निर्देश है। इन्हें प्रकारांतर से चरित्रनिष्ठा और समाजनिष्ठा कह सकते हैं। ईश्वर भक्ति, योग साधना के यह दोनों ही आरंभिक चरण हैं। इसे साधना की पृष्ठभूमि कह सकते हैं। उसके उपरांत मंत्र साधना आरंभ होती है। मंत्र साधना के दो भाग हैं-

(१) जप (२) ध्यान। इन दोनों का साथ-साथ समन्वय करके चलना पड़ता है।

जप प्रक्रिया में गायत्री मंत्र की बार-बार पुनरावृत्ति एक क्रमबद्ध प्रक्रिया के आधार पर करनी होती है। जिस तथ्य पर मन को सघन करना होता है तो उसको उच्चारण क्रिया अथवा ध्यान के माध्यम से बार-बार दोहराने की आवश्यकता पड़ती है। इसी उपाय से उन तथ्यों को मन की पृष्ठभूमि पर सघन होने का अवसर मिलता है। बच्चों को प्राथमिक कक्षा में प्राय: इसी आधार पर अपनी पढ़ाई आरंभ करनी होती है। वे वर्णमाला अथवा गिनती-पहाड़े बार-बार दोहराते रहते हैं। तभी उनके स्मृति पटल पर वह बातें स्थान जमा पाती हैं। संगीत शिक्षा में आरंभ से अंत तक दोहराने की प्रक्रिया चलती रहती है। फौजी, सैनिकों को कदम मिलाकर चलने से लेकर थोड़े से ही अभ्यासों को आएदिन दोहराना पड़ता है। इष्ट के साथ एकाकार होने के लिए उस महान गरिमा को अंत:करण पर दृढ़तापूर्वक जमाने के लिए भी उसका नामोच्चार बार-बार करना होता है। खोए हुए को पुकारने के लिए बार-बार नाम लेना पड़ता है। भगवान राम वनवास में सीता को खोजते हुए उनका नाम जोर-जोर से लेकर पुकारते हैं। बिल्ली, लोमड़ी, गाय के बच्चे जब इधर-उधर भटक जाते हैं तो बार-बार आवाज देकर अपनी उपस्थिति का परिचय देते हैं और उन्हें बुलाते हैं। मनुष्य से उसका लक्ष्य-इष्ट स्वरूप छूट गया है। इसके बिना वह मणिहीन सर्प की तरह बिलखता है। ग्राह के चंगुल में फँसे हुए गज ने भगवान को अनेक नाम लेकर पुकारा और बुलाया था। जप में बार-बार भगवान की रट लगाई जाती है और प्यासा पपीहा जिस तरह पिऊ-पिऊ पुकारता है, उसी प्रकार भगवान को, इष्ट को दूरी समीप करके निकट बुलाने का आह्वान किया जाता है।

चेतना पर संस्कार डालना कठिन है। कठिन और कठोर कार्यों को धीरे-धीरे घिस-घिसकर रगड़-रगड़कर ही पूरा किया जाता है। स्नान, हाथ-मुँह धोना, बरतन साफ करना, झाड़ू लगाना, कपड़े धोना

जैसे कार्य बार-बार रगड़ने-घिसने से ही पूरे होते हैं। पालिश किसी पर भी किसी प्रकार की भी करनी हो तो उसमें घिसाई आवश्यक होती है। आरी से काटने में भी घिसना पड़ता है। रस्सी के रगड़ने से पत्थर पर निशान बनता है और कठोर मनोभूमि पर सुसंस्कार डालने के लिए रगड़ का अभ्यास करना पड़ता है। नाम जप से यही प्रयोजन पूरा होता है।

विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि ताप की तरह ही शब्द में भी एक प्रचंड शक्ति है। इन दिनों श्रवणातीत ध्वनियों से ऐसे काम लिए जा रहे हैं जो प्रचंड ऊर्जा के लिए प्रयुक्त होने वाले करोड़ों रुपये मूल्य के विलक्षण यंत्रों से भी संभव नहीं हो पाते। मंत्रविद्या में शब्द विज्ञान के अत्यंत सूक्ष्म रहस्यों का समन्वय है। उनके शब्दों का गुंथन तत्त्व-वेत्ताओं ने इस प्रकार किया है कि नियत क्रम नियत लय ताल के अनुसार यदि उनकी पुनरावृत्ति की जाती रहे तो उससे एक अदृश्य शब्दचक्र बनता है। इसका उल्लेख चक्र सुदर्शन के रूप में हुआ है। अभीष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह ब्रह्मास्त्र रचनात्मक और ध्वंसात्मक दोनों ही कार्य पूरे करता है। टाइपराइटर की कुंजी दबाने से तीली उठती है और दूसरी जगह कागज छाप देती है। इसी प्रकार मंत्रों के शब्दोच्चार से शरीर के स्थूल और सूक्ष्म अवयवों में विशिष्ट हलचलें उत्पन्न होती हैं और उससे कई अति महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ जाग्रत होने के फलस्वरूप प्रत्यक्ष जीव में कई प्रकार की सुविधाएँ उत्पन्न होती और सफलताएँ मिलती देखी जाती हैं। जप विज्ञान के पीछे ऐसे अनेकों कारण हैं जिससे उस प्रयोजन में लगे हुए साधक का श्रम अन्य कार्यों में लगने की अपेक्षा प्रत्यक्ष और परोक्ष परिणामों की दृष्टि से कहीं अधिक सफल रहता है।

जप के साथ-साथ प्राथमिक उपासना का चतुर्थ चरण ध्यान भी आवश्यक है। जिस उद्देश्य के लिए जप किया जा रहा है, उसमें जीभ ही नहीं मन की एकाग्रता भी नियोजित होती रहे। जिस भी काम में शरीर और मन दोनों का समन्वय होता है उसी में सफलता की संभावना बहुत अधिक बढ़ जाती है। मात्र जप करते रहा जाए और मन खाली

रहे तो वह इधर-उधर भागता रहेगा। फलतः उपासना में न तो रस मिलेगा और न सफलता का सुयोग बनेगा।

मनःशक्ति प्रचंड है। बिखराव में वह नष्ट होती रहती है। यदि ध्यान द्वारा उसे एक केंद्र पर इकट्ठा कर लिया जाए तो उसका प्रभाव-परिणाम चमत्कारी होता है। सूर्य की किरणें आतिशी शीशे के माध्यम से इकट्ठी कर ली जाएँ तो आग जलने लगेगी। बिखरी बारूद को जला देने से थोड़ी सी चमक भर उत्पन्न होती है, पर यदि उसे बंदूक में भरकर एक ही दिशा में नियोजित किया जाए तो वह निशाना वेधती हुई पार निकल जाती है। भाप ऐसे ही बेकार उड़ती रहती है किंतु उसकी थोड़ी सी मात्रा भी एक केंद्र पर लगा दी जाए तो उससे रेलगाड़ी के इंजन हजारों टन माल लेकर द्रुतगति से दौड़ने लगते हैं। मनःशक्ति बारूद, भाप, धूप आदि सबसे प्रचंड है। उसे ध्यान द्वारा एकाग्र करके भौतिक अथवा आत्मिक प्रयोजनों में लगाने से आशाजनक सफलताओं के नए-नए आधार बन जाते हैं।

अंतिम पंचम चरण है-सूर्यार्घ्य दान। पूजा के समय जल पात्र के प्रतिष्ठापित छोटे से पवित्र जलकलश को सूर्य भगवान के सम्मुख अथवा उनकी दिशा में अर्घ्य दिया जाता है। यह जपरूपी यज्ञ की पूर्णाहुति है। इसे श्रद्धांजलि, जलांजलि कह सकते हैं। जल चढ़ाते समय यह भाव रहना चाहिए कि सूर्य परब्रह्म परमात्मा की प्रतिमा है-कलश अपने अस्तित्व का प्रतिनिधि है। कलशों में भरा हुआ जल जीवन-संपदा माना जाए और उसे सविता के विराट ब्रह्म के चरणों में समर्पित किया जाए। समर्पित करते समय यह भावनाएँ उभरनी चाहिए कि अपना अस्तित्व, वैभव, विशाल विश्व के लिए, लोक-कल्याण के लिए अर्पण करके उसे सच्चे अर्थों में सार्थक बनाना है। समर्पित जल सविता की ऊष्मा से भाप बनकर आकाश में बिखर जाता है और वातावरण में शीतलता उत्पन्न करके सीमित से असीम बनता है। इसी में मानव जीवन की पूर्णता, सार्थकता और ईश्वर की प्रसन्नता सन्निहित है। जीवन जल को परमार्थ के लिए समर्पित करके ही मनुष्य धन्य बनता है। यही आत्मशिक्षण सूर्यार्घ्य की प्रक्रिया के साथ जुड़ा हुआ है। ❐

विधिवत उपासना के सुनिश्चित परिणाम

सामान्य रीति से अनेकों सामान्य कार्य ऐसे ही किए जाते हैं और उनकी व्यवस्था तथा सफलता सामान्य क्रम से चलती रहती है। इस प्रकार के कामों में कब तक, कितनी मात्रा में क्या सफलता मिलेगी? इसका कुछ निश्चय नहीं रहता। ढर्रे पर गाड़ी लुढ़कती रहती है और उसका कुछ न कुछ परिणाम निकलता ही रहता है। किंतु यदि किसी आवश्यक कार्य को नियत समय में संपन्न करना है और अभीष्ट सफलता प्राप्त करनी है तो फिर सामान्य ढर्रे से काम नहीं चलता। इसके लिए विशेष योजना बनाने, साधन जुटाने, विशेष मनोयोग लगाने और विशेष श्रम करने की आवश्यकता पड़ती है। इस विशिष्टता को अपनाए बिना महत्त्वपूर्ण कार्यों को नियत अवधि में अभीष्ट सफलता के साथ संपन्न कर सकना संभव नहीं होता।

साधना के संबंध में भी यही बात है कि नित्य कर्म के रूप में सामान्य गायत्री उपासना की जाती रहती है। उसमें प्राय: मन:शुद्धि का उद्देश्य ही पूरा हो पाता है। शरीर से नित्य पसीना निकलकर त्वचा पर जमता है। अस्तु, नित्य स्नान करने की आवश्यकता पड़ती है। गंदगी जमना स्वाभाविक है, तब उसकी सफाई भी होनी चाहिए। मन के ऊपर प्रस्तुत वातावरण में कषाय-कल्मषों की परतें जमते रहना भी स्वाभाविक है। उसकी सफाई दैनिक उपासना, नित्य नियम का पालन करने से ही संभव होती है। प्राय: सभी नित्य कर्मों का उद्देश्य सहज रीति से उत्पन्न होती रहने वाली मलिनता का निवारण-निष्कासन करना है। यह भी कम महत्त्व का नहीं है। उपेक्षा करने पर जो हानि हो सकती है और तत्परता बरतने पर श्रेष्ठता का जो स्तर बना रहता है उस पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जा सके तो प्रतीत होगा कि नित्य कर्म के रूप में दैनिक उपासना का भी कितना बड़ा महत्त्व है?

अतिरिक्त रूप से आध्यात्मिक सामर्थ्य उत्पन्न करने के लिए संकल्पपूर्वक नियत प्रतिबंधों और तपश्चर्याओं के साथ विशिष्ट

उपासनाएँ करनी होती हैं। इन्हें अनुष्ठान कहते हैं। अनुष्ठान सर्व-साधारण के लिए हैं। उनमें उपासना क्रम ऐसा रहता है जिसे पालन कर सकना सर्वसुलभ हो। उसमें मंत्रोपचार के पेचीदा विधि-विधानों का दबाव नहीं रहता। पुरश्चरण इसमें कुछ कड़े होते हैं। उनमें कवच, कीलन, अर्गलन हृदय, न्यास के हवन, तर्पण, मार्जन के विधान पूरे करने पड़ते हैं। इसके लिए संस्कृत भाषा का आवश्यक ज्ञान तथा विधानों को कार्यान्वित करने का शास्त्रोक्त प्रशिक्षण आवश्यक है। इसलिए पुरश्चरणों की प्रक्रिया उन लोगों के लिए ही उपयुक्त पड़ती है, जिनके लिए आजीविका उपार्जन के, गृहस्थी के बहुत से काम नहीं हैं। जो पूरा समय और मनोयोग उसी कार्य में नियोजित रखे रह सकते हैं। निर्धारित तपश्चर्या कड़ाई के साथ पालन कर सकते हैं। संस्कृत भाषा का समुचित ज्ञान रहने से वे प्रयोग में आने वाले मंत्रों का उपयोग सही ढंग से कर सकते हैं। अनुष्ठानों से पुरश्चरणों के विधान कठिन हैं। इसलिए उनके प्रतिफल भी अधिक हैं। सर्वसाधारण के लिए अनुष्ठान ही उपयुक्त पड़ते हैं। पुरश्चरणों का प्रशिक्षण जिन्हें आवश्यक लगता हो उन्हें उसके लिए व्यक्तिगत संपर्क साधना चाहिए।

सामान्य जप की तुलना में अनुष्ठानों से उत्पन्न शक्ति का स्तर तथा परिमाण कहीं अधिक होता है। अधिक श्रम, समय, अधिक तत्परता, अधिक तपश्चर्या का समावेश होने से गायत्री उपासना में विशिष्टता उत्पन्न हो जाना और उसका प्रभाव-परिणाम अधिक ऊँचे स्तर का दीख पड़ना स्वाभाविक है।

अनुष्ठानों के कुछ विशेष नियम यह हैं-(१) नियत दिनों में नियत जप संख्या पूरी करनी होती है, जिसमें सामान्य उपासना की तुलना में अधिक समय लगता है। इसके लिए दिनचर्या में आवश्यक हेर-फेर करके अधिक समय लगाने का प्रबंध करना पड़ता है। (२) अनुष्ठान के दिनों में ब्रह्मचर्यपालन अनिवार्य रूप से आवश्यक होता है। (३) भोजन में उपवास तत्त्व का समावेश किसी न किसी रूप में करना ही होता है। साधारण भोजन क्रम नहीं चल सकता। (४) अनुष्ठान काल में साधक की स्थिति तपस्वी जैसी होती है। उन

दिनों इतना तो करना ही होता है कि अपनी शारीरिक सेवा जहाँ तक हो सके दूसरों से न कराएँ, उन्हें अपने हाथों ही पूरा करें। (५) भूमि शयन, कम वस्त्रों का उपयोग, चमड़े से बनी वस्तुओं का त्याग जैसी तितिक्षाएँ संपन्न करें। (६) अंत में हवन, ब्रह्मभोज की पूर्णाहुति संपन्न करें। यह छह कार्य करने से अनुष्ठान की मर्यादाएँ पूरी होती हैं और उनके अभीष्ट सत्परिणाम उत्पन्न होते हैं।

अनुष्ठानों की तीन श्रेणियाँ हैं–लघु, मध्यम और पूर्ण। लघु अनुष्ठान के २४ हजार जप ९ दिन में पूरा करना होता है। मध्यम सवा लाख जप का होता है। उसके लिए ४० दिन की अवधि नियत है। पूर्ण अनुष्ठान २४ लाख जप का है। उसमें एक वर्ष लगता है। माला में यों १०८ दाने होते हैं पर अनुष्ठान गणना में उन्हें १०० ही माना जाता है। आठ भूल-चूक, अशुद्धि उच्चारण आदि के लिए अतिरिक्त छोड़ दिए जाते हैं। एक घंटे में १० से १२ मालाएँ पूरी होती हैं। यह मध्यम गति है। किसी की मुख संरचना इससे न्यूनाधिक हो सकती है। ऐसी दशा में संख्या संतुलन ठीक करने की अपेक्षा यह अधिक उत्तम है कि घड़ी रखकर उतना समय पूरा कर लिया जाए जो मध्यम गति से जप करने में लगा है। २४ हजार जप ९ दिन में पूरा करने के लिए हर दिन २७ मालाएँ जपनी होती हैं। इनमें प्राय: ढाई घंटा समय लगता है। सवा लाख जप ४० दिन में करने पर प्रतिदिन ३३ माला की जाती हैं जो प्राय: तीन घंटे में पूरी होती हैं। २४ लाख जप एक वर्ष में होता है और उसमें ६६ मालाएँ हर दिन की जाती हैं, जिनमें प्राय: छह घंटे समय लगता है। सर्वोत्तम समय प्रात:काल का ही है पर यदि वह एक बार में पूरा न हो सके तो प्रात:-सायं दो बार में पूरा किया जा सकता है। त्रिकाल संध्या की दृष्टि से मध्याह्न काल में भी कुछ अंश पूरा किया जा सकता है। पर परंपरा में अधिकांश प्रात:काल और जो कम पढ़े वह सायंकाल कर लेने का प्रचलन है।

जप से पूर्व स्नान और धुले वस्त्र पहनने का नियम है। उपासना कक्ष, पूजा के पात्र हर दिन साफ करने चाहिए। पूजा उपचार की वस्तुओं में से जो पहले दिन प्रयोग में आ चुके हों उन्हें दोबारा काम

में नहीं लाना चाहिए। आधी जली हुई धूपबत्ती दूसरे दिन प्रयोग में नहीं लानी चाहिए। इसी प्रकार दीपक में बचा हुआ घी या बत्ती दूसरे दिन प्रयोग में नहीं लाई जाती। कटोरी में बचा हुआ चंदन भी अगले दिन काम का नहीं रहता। फूल आदि वस्तुएँ तो नई ही ली जाती हैं। अक्षत नैवेद्य जैसी वस्तुएँ ही ऐसी हैं जो डिब्बी में रखी रहती हैं और उनमें से थोड़ी-थोड़ी निकाली और काम में लाई जाती रहती हैं।

यों नियम तो सम्मिलित उपासना में भी वही है, पर अनुष्ठान के दिनों में अग्नि और जल को साक्षी रखा ही जाना चाहिए। जलकलश के लिए छोटी सी लुटिया रखी जाती है जिसमें देवशक्तियों का आह्वान करते हैं और पीछे उसे ही सूर्यार्घ्य के लिए चढ़ा देते हैं। अग्नि के लिए इन दिनों अगरबत्ती से काम चल जाता है। यों महत्त्व दीपक का अधिक है, पर यह शुद्ध घृत का ही होना चाहिए। तेल, वेजीटेबिल आदि से काम नहीं चलेगा। इन दिनों शुद्ध घी मिलना उन्हीं के लिए संभव है जो या तो स्वयं गाय पालें या दूध खरीदकर उसमें से अपने हाथों निकालें। पैक बंद डिब्बों का घृत भी शुद्ध हो सकता है। बाजार में खुला बिकने वाला तो प्राय: संदिग्ध ही होता है। जहाँ दुविधा हो वहाँ अगरबत्ती धूपबत्ती से ही काम चला लेना पर्याप्त है। अनुष्ठान काल में पूरी अवधि तक अखंड दीपक जलाने की बात सोचना तो उत्तम है, पर उसके लिए सावधानी बहुत बरतनी पड़ती है। तनिक भी असावधानी रहने से दीपक बुझ जाता है और उसमें देवता की नाराजी आदि का अनुमान लगाकर साधक को व्यर्थ ही खिन्न बनना पड़ता है। इसलिए यदि दीपक जलाना हो तो जपकाल की अवधि तक ही उसे जलाना चाहिए।

पूजा वेदी यदि दैनिक उपासना के लिए पहले से ही बनी हुई है तो वही पर्याप्त है। अन्यथा नई चौकी स्थापित की जानी चाहिए। गायत्री माता का चित्र आवश्यक है। पिछला चित्र मैला धुँधला हो गया हो तो अनुष्ठान के समय नया चित्र बदल लिया जाए और पुराना जल में विसर्जित कर दिया जाए। चौकी पर बिछने वाला कपड़ा अनुष्ठान के लिए बदल लेना चाहिए। वह पुराने कपड़े में से निकाला हुआ नहीं

वरन नया ही होना चाहिए। पीले रंग में रँगा हुआ। पूजा उपचार के लिए पंचपात्र में जल, पुष्प, अक्षत, नैवेद्य, अगरबत्ती, चंदन, रोली यह वस्तुएँ काम में लाई जाती हैं। अन्य वस्तुओं में कठिनाई नहीं होती, पर नए फूल प्रातःकाल मिलने कठिन हो जाते हैं। शाम को पानी छिड़ककर फूल खुली जगह में रखे रहने दिए जाएँ तो वे मुरझाते नहीं। बिना मुरझाए फूल पूजा के काम आते हैं। यदि वे न मिलें तो चावलों को चंदन तथा हलदी के रंग में रँगकर उन्हें फूलों के स्थान पर प्रयोग में लाया जा सकता है।

आसन चमड़े का नहीं लेना चाहिए। इन दिनों वध किए गए जानवरों का ही चमड़ा मिलता है। प्राचीनकाल में अपनी मौत मरे हुए मृगचर्म काम में आते थे। अब वैसी सुविधा नहीं रही।

साथ ही अन्य आसन भी सुविधापूर्वक उपलब्ध हैं। प्राचीनकाल में वनवासी, तपस्वी न केवल आसन का वरन वस्त्रों का काम भी चमड़े से ही चलाते थे। अब वैसी स्थिति नहीं रही। अस्तु, कुशा के आसन, चटाई, कंबल आदि के आसन ही काम में लाने चाहिए। कपड़ा प्रयोग करना हो तो उसे धोते रहना चाहिए।

जप के समय पलथी मारकर बैठना चाहिए। यह सुखासन ही सुविधाजनक है। पद्मासन आदि पर देर तक नहीं बैठा जा सकता। टाँगों पर दबाव पड़ने से ध्यान भी उचटता है। जप काल में कमर सीधी रखी जाए। आँखें अधखुली। माला चंदन की अधिक उपयुक्त है। इन दिनों तुलसी और रुद्राक्ष के नाम पर नकली वस्तुएँ ही बाजार में बिकती हैं। चंदन की माला आसानी से मिल जाती है। अनुष्ठान काल में जप में पूरे वस्त्र पीले रखने में कठिनाई हो तो कम से कम कंधे पर दुपट्टा तो पीला रहना ही चाहिए। पीत वस्त्र अनुष्ठान का परिधान है। पाजामे का नहीं धोती का ही अनुष्ठान काल में उपयोग होने की परंपरा है।

जपकाल में पलथी बदलते रहने में कोई प्रतिबंध नहीं है। देर तक बैठना संभव न हो सके तो खड़े होकर भी जप किया जा सकता है। बीच में पेशाब जाना हो तो हाथ-पैर धोकर फिर बैठना चाहिए।

शौच जाना पड़े तो धोती बदलने एवं स्नान करने की आवश्यकता पड़ेगी। जँभाई या झपकी आने लगे तो उस उदासी को दूर करने के लिए मुँह धोने और आचमन करने से चेतनता आ जाती है।

अनुष्ठान के उपर्युक्त नियमों में कई बार कुछ शिथिलता करने की आवश्यकता पड़ती है। देश, काल, पात्र को ध्यान में रखते हुए वैसी छूटें दी जाती हैं। अति शीतप्रधान प्रदेशों में अथवा कमजोरों-रोगियों को शीतऋतु में प्रातःकाल स्नान करते नहीं बन पड़ता। गरम पानी उपयोग करने की तो छूट है, पर उतने से भी काम न चले तो शरीर को तौलिये से पोंछकर या हाथ-पैर-मुँह धोकर भी काम चल सकता है। कपड़ों में वे वस्त्र तो बदल ही लेने चाहिए जिनसे पसीना, पेशाब आदि का स्पर्श होता है।

यज्ञोपवीत पहनना, शरीर-मंदिर पर गायत्री की प्रतीक-प्रतिमा धारण कर लेने के समतुल्य है। अस्तु, अनुष्ठान के दिनों में तो हमें पहन ही लेना चाहिए पीछे भले ही अनुष्ठान की पूर्ति होने पर विसर्जित कर दिया जाए। नर और नारी दोनों ही समान रूप से यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकारी हैं। स्त्रियों को मासिकधर्म होने के उपरांत पुराना यज्ञोपवीत उतारकर नया धारण करना होता है।

अनुष्ठान काल में ब्रह्मचर्यपालन आवश्यक है। स्वप्नदोष होना अपने हाथ की बात नहीं इसलिए उसमें दोष नहीं आता। किंतु यदि मध्य में ब्रह्मचर्य टूटता है तो वह अनुष्ठान जितना हो चुका, खंडित माना जाएगा और उसका आरंभ नए सिरे से करना पड़ेगा।

अनुष्ठान का दूसरा व्रत है-उपवास। केवल जल पर नहीं रहना चाहिए। उसके लिए विशेष सतर्कता और अनुभव की आवश्यकता होती है अन्यथा हानि होने का डर रहता है। दूध, छाछ, फलों का रस, शाकों को उबालकर बनाया गया रसा जैसे द्रव पदार्थों पर चलने वाला उपवास पूर्ण माना जाता है। नौ दिन तो वह आसानी से निभ सकता है। यदि उतना न बन पड़े तो उसके हलके स्वरूप और भी हैं। जैसे-(१) नमक और शक्कर का त्याग कर अस्वाद व्रत का पालन। (२) एक समय भोजन, एक समय दूध-छाछ पर निर्वाह। (३) शाकाहार-

फलाहार। (४) एक वस्तु खाने की, दूसरी लगाने की मात्र दो ही वस्तुओं का उपयोग। जैसे–रोटी–साग, चावल–दाल आदि। थाली में दो से अधिक वस्तुएँ न हों।

अपने शरीर की सेवा आप करने में अपने हाथों की तप–तितिक्षा में भोजन अपने हाथ से बनाने की बात भी आती है। उतना न बन पड़े तो अपनी पत्नी, माता अथवा कुमारियों के हाथ का पकाया हुआ भोजन लिया जा सकता है। कुसंस्कारी हाथों का पकाया हुआ बाजारू भोजन तो ग्रहण नहीं ही किया जाए। हजामत अपने हाथों बनाने से काम चल सकता है। कपड़े अपने हाथों धोए जाएँ तो उत्तम है, अन्यथा माता–पत्नी मात्र की सेवाएँ उसके लिए स्वीकार की जाएँ। मनुष्य द्वारा खींचे जाने वाले रिक्शे में बैठने से बचा जा सके तो उत्तम है। बुहारी लगाने, तेल मालिश करने जैसे काम भी अपने हाथों ही उन दिनों स्वयं करने का प्रयत्न करना चाहिए।

भूमिशयन का स्थानापन्न लकड़ी का तखत हो सकता है। उसमें भी कठोरता होती है। कोमल शय्या पर तितिक्षा नहीं सधती। भूमि–शयन का नियम इसीलिए बनाया गया है। जहाँ तक हो सके कम वस्त्र पहनें ताकि सरदी–गरमी का प्रभाव कुछ तो सहन करना ही पड़े। यदि चलने की भूमि बहुत अनुपयुक्त न हो तो अनुष्ठान के दिनों नंगे पैर भी रहा जा सकता है। चमड़े के बने जूतों का तो अनुष्ठान काल में निषेध है ही, क्योंकि वध किया चमड़ा ही आज उपलब्ध होता है। इस वध कृत्य में काटने वाला ही नहीं उस मांस और चमड़े का उपयोग करने वाला भी पाप का भागी बनता है।

अनुष्ठान के अंत में जप की शतांश आहुतियाँ देनी चाहिए। यज्ञ–हवन अब सर्वसाधारण की अर्थशक्ति से बाहर है। २४ हजार जप के लिए २४० आहुतियाँ दी जाती हैं। इन्हें कई व्यक्ति मिलकर करें तो उसी हिसाब से कम बार आहुति देनी होगी। २४० आहुतियाँ पाँच व्यक्ति मिलकर दें। ४८ बार मंत्रोच्चार करके साथ–साथ आहुतियाँ देने से वह कार्य संपन्न हो जाता है। यदि प्रतिदिन आहुतियाँ दी जाती रहें तो एक व्यक्ति २७ आहुति नित्य देकर भी अपने अनुष्ठान का हवन

पूरा करता रह सकता है। यदि कारणवश हवन की व्यवस्था न बन पड़े तो दशांश जप अधिक करने से भी उसकी पूर्ति हो सकती है। चौबीस हजार जप के लिए २४०० जप अधिक कर लिया जाए तो भी विवशता की स्थिति में उसे भी पर्याप्त मान लिया जाएगा।

प्रसाद-वितरण ब्रह्मभोज की आवश्यकता इन दिनों ज्ञान प्रसाद वितरण से की जानी चाहिए। आत्मिक प्रगति में सहायक सद्ज्ञान प्रदान करने वाला ऐसा सस्ता साहित्य युग निर्माण योजना द्वारा इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए छापा गया है। न्यूनतम सवा रुपया ब्रह्मभोज के लिए-ज्ञान वितरण के लिए खरच किया जाए। अधिक बन सके तो और भी उत्तम है। इस प्रसाद को जिस-तिस को बिखेर नहीं देना चाहिए, वरन सत्पात्रों के पास डाक से या व्यक्तिगत रूप से पहुँचाना चाहिए ताकि उसका समुचित उपयोग हो सके।

आश्विन और चैत्र की नवरात्रियाँ लघु अनुष्ठानों के लिए अत्यंत उपयुक्त समय है। यों उन्हें कभी भी संपन्न किया जा सकता है। किसी तिथि मुहूर्त का कोई बंधन नहीं है। फिर भी दोनों नवरात्रियों का विशेष महत्त्व है। जेष्ठ में प्रतिपदा से दशमी तक गायत्री जयंती पर भी तीसरी नवरात्रि मानी गई है। चौबीस लाख का लंबा अनुष्ठान करने के स्थान पर सवा लाख के बीस या चौबीस हजार के सौ कर लेना अधिक सुविधाजनक रहता है। किसी कारणवश कोई अनुष्ठान खंडित हो जाए तो उसे नए सिरे से करना चाहिए। यदि स्त्रियों का अनुष्ठान मासिक आ जाने से बीच में ही खंडित हुआ हो तो जितना शेष था उसकी पूर्ति शुद्धि के बाद की जा सकती है। उसे खंडित हुआ नहीं माना जाएगा, मात्र व्यवधान ही गिना जाएगा।

❐

स्वयं में एक समग्र धर्मशास्त्र

गायत्री-मंत्र

गायत्री वैदिक संस्कृत का एक छंद है जिसमें आठ-आठ अक्षरों के तीन चरण-कुल २४ अक्षर होते हैं। गायत्री शब्द का अर्थ है-प्राण रक्षक। गाय कहते हैं प्राण को, त्री कहते हैं त्राण-संरक्षण करने वाली को। जिस शक्ति का आश्रय लेने पर प्राण का-प्रतिभा का-जीवन का संरक्षण होता है, उसे गायत्री कहा जाएगा। और भी कितने अर्थ शास्त्रकारों ने किए हैं। इन २४ अक्षरों में से प्रत्येक की अलग-अलग संगतियाँ मिलकर २४ ऐसे प्रेरक सूत्र प्रस्तुत किए हैं जिन्हें चरित्र-निष्ठा एवं समाज-निष्ठा के व्यक्ति और समाज की प्रगति सुव्यवस्था के आधारभूत सिद्धांत कहा जा सकता है। इस महामंत्र के शब्दों को नवधा भक्ति के सिद्धांत-ब्रह्मतत्त्वरूपी सूर्य के नवग्रह कहा गया है। रामायण के राम-परशुराम संवाद में ब्राह्मण के परम पुनीत नौ गुणों की चर्चा है। यह धर्म के दस लक्षणों से मिलते-जुलते हैं। इन सब अर्थों पर विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि यह छोटा सा मंत्र भारतीय संस्कृति, धर्म एवं तत्त्वज्ञान का बीज है। इसी के थोड़े से अक्षरों में सन्निहित प्रेरणाओं की व्याख्यास्वरूप चारों वेद बने। **ॐ भूर्भुवः स्वः** यह गायत्री का शीर्ष कहलाता है। शेष आठ-आठ अक्षरों के तीन चरण हैं, जिनके कारण उसे त्रिपदा कहा गया है। एक शीर्ष तीन चरण, इस प्रकार उसके चार भाग हो गए। इन चारों का रहस्य एवं अर्थ चारों वेदों में है। कहा जाता है कि ब्रह्माजी ने अपने चार मुखों से गायत्री के इन चारों भागों का व्याख्यान चार वेदों के रूप में दिया। इस प्रकार उसका नाम वेदमाता पड़ा।

गायत्री में सन्निहित तत्त्वज्ञान की दो प्रकार से व्याख्या होती रही है-एक ज्ञानपरक, दूसरी विज्ञानपरक। ज्ञानपरक को ब्रह्मविद्या और विज्ञानपरक को ब्रह्मशक्ति कहते हैं। इन दोनों पक्षों को आलंकारिक रूप में ब्रह्मा की दो पत्नियों के रूप में चित्रित किया गया है। एक का नाम गायत्री और दूसरी का सावित्री है। गायत्री में योगाभ्यास की

ध्यान-धारणा है और सावित्री में तपश्चर्या की प्रेरणा। एक को दर्शन दूसरे को प्रयोग कह सकते हैं। सिद्धांत और व्यवहार के समन्वय से ही एक बात पूरी होती है। गायत्री में अपने ही भीतर दोनों पक्ष हैं। उसमें आत्मकल्याण की गंगा और भौतिक समृद्धि की यमुना दोनों का उद्‌गम है। उद्‌गम छोटे होते हैं किंतु आगे बढ़ते चलने पर उनका विकास होता चलता है। गायत्री के बीजमंत्र का अर्थ और रहस्य समूचे आर्ष साहित्य के रूप में विस्तृत होता चला गया है।

गायत्री का सार-शब्दार्थ इसी प्रार्थना में समाविष्ट हो जाता है कि हे तेजस्वी परमात्मा! हम आपके श्रेष्ठ प्रकाश को अपने में धारण करते हैं। हमारी बुद्धि को सन्मार्ग पर प्रेरित कीजिए। शिक्षा की दृष्टि से इन शब्दों का सार बुद्धि को सन्मार्ग पर चलाने के लिए प्रयत्न करना है। सद्‌बुद्धि ही वह तत्त्व है जिसके आधार पर व्यक्तित्व निखरते-उभरते हैं। इसी के अभाव में पतन और पिछड़ापन पल्ले बँधता है। हाड़-मांस की दृष्टि से सभी मनुष्यों के शरीरों की स्थिति प्रायः एक जैसी है। मानसिक रोगियों, अविकसितों को छोड़कर मस्तिष्कीय स्तर भी एक जैसा ही होता है। प्रयत्न करने पर शरीरों को बलिष्ठ और मस्तिष्कों को विद्वान बनाया जाता है। मूलतः सभी मनुष्यों, प्राणियों की स्थिति लगभग एक जैसी ही मानी जा सकती है।

इतने पर भी एक ऋषि बनता है, दूसरा तस्कर। एक श्रेष्ठ-सज्जन का श्रेय-सम्मान पाता है, दूसरा दुष्ट-दुर्जन के रूप में धिक्कारा जाता है। एक को असीम सहयोग मिलता है और पग-पग पर सफलता की सीढ़ियाँ सामने खड़ी दीखती हैं। दूसरा अविश्वस्त, अप्रामाणिक माना जाता है और असहयोग के कारण हर काम में असफल रहता है। यह अंतर मात्र बुद्धि के स्तर का है। वह जिधर भी घसीट ले जाती है उधर ही जीवन का प्रवाह बहने लगता है। कौन क्या बना? किसे, कितनी सफलता मिली? किसने, कितना श्रेय-सम्मान पाया? उसका श्रेय समुन्नत लोगों की सद्‌बुद्धि को ही दिया जा सकता है। जो दुर्गति के दलदल में फँसे हैं, उनके दुर्भाग्य का सूत्र-संचालन दुर्बुद्धि ही करती दिखाई देगी। स्वर्ग तक ऊँचा उठा ले जाने और नरक के गर्त में गिराने का कार्य मानवी बुद्धि की स्थिति और दिशाधारा पर ही अवलंबित रहता है।

तत्त्वदर्शी महामनीषियों ने इस तथ्य को समझा और मनुष्यमात्र को शिक्षा दी कि वे बुद्धि का महत्त्व समझें और उसे शालीनता की रीति-नीति अपनाने के लिए प्रशिक्षित बनाने का प्रयत्न करें। यही है गायत्री मंत्र का मूल विषय। कहने-सुनने में बात सरल सी है पर व्यवहार में बड़ी कठिनाई से उतरती है, क्योंकि आस्था, श्रद्धा, निष्ठा, प्रज्ञा का चतुर्विध समन्वय अंत:करण कहलाता है। यही वह मरुस्थल है, जहाँ से दिशा देने वाली प्रेरणाएँ उठती हैं और उसे कार्यान्वित करने के लिए मन, बुद्धि एवं चित्त का मस्तिष्कीय संस्थान क्रियाशील होता है। अंत:करण को प्रभावित, परिवर्तित एवं परिष्कृत करने की क्षमता जिन विशिष्ट उपचारों में है उन्हीं को अध्यात्म साधना कहते हैं। गायत्री मंत्र के अक्षरों में ज्ञान की उच्चस्तरीय भूमिका विद्यमान है। उस विचार-प्रक्रिया को अंतरात्मा की गहरी परत में प्रतिष्ठापित करने के लिए गायत्री मंत्र की उपासना की जाती है। इस कथन का सार इतना ही है कि मंत्रार्थ को उत्कृष्ट चिंतन के रूप में ग्रहण करना मस्तिष्क का काम है और उसकी दिव्य प्रेरणाओं को चेतना के मर्मस्थल में प्रतिष्ठित करना अंत:करण का। मस्तिष्क और अंत:करणों में जो सद्भावना सुस्थिर होती और प्रखर बनती है उसी को परमपावनी सद्बुद्धि ऋतंभरा प्रज्ञा एवं गायत्री माता कहा गया है। जो इतना प्रयोजन पूरा कर सके, वही इस महामंत्र का वास्तविक, तात्त्विक एवं रहस्यमय गूढ़ार्थ है।

शब्दों की दृष्टि से इस महामंत्र का भावार्थ सरल है-ॐ परमात्मा का स्वयंभू स्वोच्चरित नाम। प्रकृति के गहन अंतराल से एक दिव्य ध्वनि झंकार घरघराहट के रूप में गूँजती है। ब्रह्म और प्रकृति का बार-बार संयोग आघात होने से ही तीन गुण, पाँच प्राण और पाँच तत्त्व उत्पन्न होते हैं। उन्हीं से पदार्थों और प्राणियों की संरचना होती है। शब्दब्रह्म को सृष्टि का आदि कारण माना गया है। इसी को प्रकृति और पुरुष की मिलन प्रक्रिया का अनवरत क्रम कहा गया है। यहीं से अनहदनाद उत्पन्न होता है। यही ॐकार है। घड़ियाल पर हथौड़े की चोट पड़ते रहने से जिस प्रकार झंकार-थरथराहट होती है। जिस तरह घड़ी का पेंडुलम हिलने से

आवाज भी होती है और मशीन भी चलती है, ठीक उसी तरह प्रकृति-पुरुष के मिलन संयोग से ॐकार उत्पन्न होता है और उस सृष्टि-बीज से स्थूल प्रकृति का आकार बनता जाता है। पूरी प्रकृति के अपरा बनने की, अदृश्य के दृश्य होने की यही प्रक्रिया है। इस प्रकार ॐकार ईश्वर का स्वोच्चरित सर्वश्रेष्ठ नाम माना गया है। प्रत्येक वेदमंत्र के सम्मानार्थ सर्वप्रथम ॐकार लगाए जाने की परंपरा भी है। गायत्री मंत्र में ॐकार का प्रयोग इसी दृष्टि से हुआ है।

भूः भुवः स्वः यह तीन लोक हैं। यों उन्हें पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग-मध्य, ऊपर, नीचे के रूप में भी जाना जाता है। पर अध्यात्म प्रयोजनों में भूः स्थूलशरीर के लिए, भुवः सूक्ष्मशरीर के लिए और स्वः कारणशरीर के लिए प्रयुक्त होता है। बाह्य जगत और अंतर्जगत के तीन लोकों में ॐकार अर्थात परमेश्वर संव्याप्त है। व्याहृतियों में इसी तथ्य का प्रतिपादन है। इसमें विशाल विश्व को विराट ब्रह्म के रूप में देखने की वही मान्यता है, जिसे भगवान ने अर्जुन को अपना विराट रूप दिखाते हुए हृदयंगम कराया था। ॐ व्याहृतियों का समन्वित शीर्ष भाग इसी अर्थ और इसी प्रकाश को प्रकट करता है।

तत् अर्थात वह। सवितु-प्रकाश और ऊर्जा से-ज्ञान और वर्चस् से ओत-प्रोत परमेश्वर। वरेण्यं-श्रेष्ठ। भर्ग-तेजस्वी, विनाशक, देव, दिव्य इन चार शब्दों में परब्रह्म परमात्मा के उन गुणों का वर्णन है जिन्हें अपनाने का प्रयत्न करना हर अध्यात्मवादी के लिए, हर आत्मिक प्रगति के आकांक्षी के लिए नितांत आवश्यक है।

सविता-प्रातःकालीन स्वर्णिम सूर्य को कहते हैं। यह परमेश्वर की स्वनिर्मित प्रतिमा है। उससे बाह्य जगत में प्रकाश और अंतर्जगत में सद्ज्ञान का अभिवर्षण होता है। सूर्य से गरमी-ऊर्जा बाह्य जगत को मिलती है। सत्संकल्प और सत्साहस से भरी हुई आत्मशक्ति का अनुदान अंतर्जगत को मिलता है। सविता शब्द का गायत्री मंत्र में सर्वप्रथम उल्लेख इसी दृष्टि से हुआ है कि साधक को प्रज्ञावान और शक्तिवान बनने के लिए अथक पुरुषार्थ करना चाहिए।

वरेण्यं-श्रेष्ठ चुनने योग्य, स्वीकार करने योग्य-वरिष्ठ। इस संसार में उत्कृष्ट-निकृष्ट, भला-बुरा सब कुछ विद्यमान है। उसमें से

जो श्रेष्ठ है, उसी को स्वीकार करना चाहिए। हंस जिस प्रकार नीर-क्षीर का विवेक करता है–मोती ही चुगता है, उसी प्रकार हमारा चयन मात्र उत्कृष्टता का ही होना चाहिए। निकृष्टता का तिरस्कार बहिष्कार करना ही उचित है। आकर्षक और हितकर में से किसका चयन करें–इसी प्रश्न पर प्रायः भयंकर भूल होती है। तात्कालिक लोभ के लिए दूरगामी हित साधन की उपेक्षा की जाती है। यह भूल न होने देने की ओर गायत्री मंत्र में संकेत है।

भर्ग शब्द तेजस्विता का बोधक है। इसमें प्रतिभा, साहसिकता, तत्परता, तन्मयता जैसे तत्त्वों का समावेश है। क्रिया में ओजस्, विचारणा में तेजस् और भावनाओं में वर्चस् का आभास जिस दिव्य तत्त्व के आधार पर मिलता है उसे भर्ग कहते हैं। भर्ग में एक भाग भूनने-नष्ट करने का भी है। अवांछनीयता, अनैतिकता, मूढ़ मान्यता जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ छाई रहें तो मनुष्य माया और पतन के दलदल में फँसा ही रहेगा। इनसे छुटकारा पाने के लिए ऐसी प्रखरता का उद्भव होना चाहिए जो अंतर के कषायों और भीतर के कल्मषों से लोहा लेने में शौर्य-पराक्रम का परिचय देती रहे।

परमेश्वर के अनंत नाम हैं और इच्छानुसार नए रखे जा सकते हैं, किंतु आत्मिक प्रगति के लिए जिन चार विशिष्टताओं की नितांत आवश्यकता है, उनके बोधक शब्दों का समावेश गायत्री मंत्र में हुआ है। सविता, वरेण्य, भर्ग के उपरांत चौथी विभूतिसत्ता का नाम है 'देव'। देवताओं की गरिमा-महिमा के संबंध में मोटी मान्यता और कल्पना प्रायः सभी को होती है। वे सुंदर होते हैं, सदा युवक रहते हैं, उन्हें किसी बात की कमी नहीं पड़ती, प्रसन्न रहते हैं। वे दिव्य गुण, कर्म, स्वभाव के होते हैं। ईश्वर को 'देव' शब्द से संबोधन करने में यह आत्म शिक्षण है कि हम परमात्मदेव के भक्त बनें और देवत्व की विशेषता में उनका अनुकरण-अनुगमन करें।

देव और दैत्यों की यों आलंकारिक रूप से आकृतियाँ भी बनी हैं। देव सुंदर और दैत्य कुरूप हैं। वस्तुतः उस चित्रण में आंतरिक प्रकृति का ही संकेत समझा जाना चाहिए। देवत्व श्रेष्ठता की प्रकृति, आस्था, परंपरा एवं रीति-नीति है जिसे अपनाकर मनुष्य महामानवों की श्रेणी में जा

पहुँचता है। कायकलेवर तो सामान्य ही रहता है पर दृष्टि, योजना एवं क्रिया में उत्कृष्टता ही कूट-कूटकर भरी होती है। देवात्मा ही महात्मा कहलाते हैं। स्तर और ऊँचा उठने पर वे ही परमात्मा के देवदूत अथवा अवतारों के रूप में प्रकट होते और सृष्टि का संतुलन सँभालते हैं। गायत्री मंत्र से जन-जन को इसी देवत्व की दिशा में बढ़ चलने की प्रेरणा देने के लिए ईश्वर को 'देव' शब्द से संबोधित किया गया है।

उपर्युक्त चारों विशेषताओं की आवश्यकता एवं उपयोगिता समझ लेने पर ही काम नहीं चलता। उनके प्रति अंत:करण से गहन निष्ठा जमनी चाहिए और आचरण में इन्हीं का अभ्यास-व्यवहार परिलक्षित रहना चाहिए। इसी को धारण कहते हैं। धीमहि शब्द का अर्थ है- धारण करना। आदर्शों को व्यवहार में उतारना ही उनकी धारणा है। कल्पनाएँ करते रहने, कहने-सुनने मात्र में उलझे रहने से कुछ बनने वाला नहीं है। परिणाम ही क्रिया उत्पन्न करता है। क्रियावान ही सच्चा ज्ञानवान माना जाता है। उसी को सद्ज्ञान का सत्परिणाम उपलब्ध होता है, जो चिंतन को क्रिया में परिणत करने का साहस दिखाता है।

शीर्ष भाग में ईश्वर के सर्वव्यापी होने की आस्था को विकसित करके पदार्थों के प्रति सदुपयोग की और प्राणियों के प्रति सद्व्यवहार की नीति अपनाने का निर्देश है। प्रथम चरण में सविता और वरेण्य की तथा द्वितीय चरण में भर्ग और देव की अवधारणा का प्रशिक्षण है। गायत्री के अंतिम तृतीय चरण धियो योन: प्रचोदयात् के अंतर्गत परम पिता परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि वह साधक अकेले की नहीं वरन समस्त जनसमुदाय में प्राणिमात्र में धी तत्त्व की-सद्बुद्धि की प्रेरणा करे। न:-हम सबको और धिय:-बुद्धियों को कहते हैं। यहाँ एक व्यक्ति की बुद्धि सुधर जाने को अपर्याप्त माना गया है। यह सुधार व्यापक रूप से हो तभी काम चलेगा। बहुमत दुर्बुद्धिग्रस्तों का बना रहा तो एकाकी सज्जनता मात्र से कोई बड़ा प्रयोजन पूरा न हो सकेगा।

भगवान से प्रार्थना की गई है कि अपना अनुग्रह व्यक्ति विशेष पर बरसाकर हाथ रोक न लें वरन सद्भाव के प्रकाश को उदीयमान सूर्य की तरह सर्वत्र बिखेरें। वैदिक शिक्षण की पद्धति यह है कि किसी विभूति एवं संपत्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करने के रूप में आत्म-

शिक्षण की व्यवस्था है। प्रार्थना एक शैली है जिसके आधार पर अपने लिए, सबके लिए प्रबल पुरुषार्थ करने का भी निर्देश-संकेत है। माँगने भर से ही सब कुछ मिल नहीं जाता। याचना में तो आकांक्षा की आवश्यकता का प्रकटीकरण मात्र है। किसी से कुछ पाना हो तो उसके लिए पात्रता की शर्त आवश्यक है। कुपात्रों को कौन कुछ देता है। किसी प्रकार मिल भी जाए तो उसका सदुपयोग कुपात्रता के रहते हो नहीं सकता। उपलब्ध साधनों का दुरुपयोग होने से वे उलटे विघातक सिद्ध होते हैं। दुष्टता के रहते तो अभावग्रस्तता ही श्रेयस्कर होती है। परमेश्वर से याचना करने का तात्पर्य यह नहीं है कि जो कुछ माँगा जा रहा है, वह अंधाधुंध बरसा दिया जाए वरन अंत:करण में विराजमान आत्मदेव से यह अनुरोध करना है कि वे अपनी पात्रता और प्रौढ़ता विकसित करें ताकि सहज ही उपलब्ध होती रहने वाली ईश्वरीय अनुकंपा का अभीष्ट लाभ उपलब्ध हो सके।

प्रचोदयात् शब्द में प्रेरणा का अनुरोध है। वस्तुत: यही ईश्वरीय अनुग्रह करने का केंद्र भी है। प्रेरणा का तात्पर्य है-अंत:करण में प्रबल आकांक्षा की उत्पत्ति। यह ही समूचे व्यक्तित्व का सारतत्त्व है। अंत:प्रेरणा का अनुसरण मन:संस्थान करता है। मन के निर्देश पर शरीर काम करता है। क्रिया का परिणाम और परिस्थिति के रूप में सामने आता है। तदनुसार सुख-दु:ख के वे स्वरूप सामने आते हैं जिन्हें पाने या हटाने के लिए मनुष्य इच्छा करता है। इच्छा की पूर्ति होने न होने में सहायक, बाधक और कोई नहीं अंत:करण की प्रेरणा का स्तर ही आधारभूत कारण होता है।

गायत्री उपासना का उद्देश्य है-व्यक्ति का ऐसा अनुकूलन जिसमें ईश्वर के अजस्र अनुग्रह को धारण कर सकने की पात्रता हो। उपजाऊ भूमि में ही वर्षा के बादलों के अनुग्रह से हरियाली उपजती है। कठोर चट्टानों पर तो एक पत्ता भी नहीं उगता। गायत्री उपासक का पूरा ध्यान आत्मपरिष्कार में नियोजित हो, यही है संक्षेप में गायत्री मंत्र का अर्थ और तात्पर्य। जो उसका पालन कर सकेगा वह उन सभी लाभों से लाभान्वित होगा जो गायत्री उपासना के संदर्भ में शास्त्रकारों और ऋषियों ने बताए हैं।

❐

भारतीय धर्म के सांस्कृतिक माता-पिता—गायत्री एवं यज्ञ

गायत्री को भारतीय संस्कृति की जननी और यज्ञ को भारतीय धर्म का पिता कहा गया है। दोनों अन्योन्याश्रित माने गए हैं। गायत्री जप का अनुष्ठान यज्ञ का समन्वय हुए बिना पूरा नहीं हो सकता। जप का एक अंश हवन करना भी होता है। पुराने समय की सुविधासंपन्न स्थिति में जप का दशांश हवन होता था। अब समय को देखते हुए शतांश आहुतियों की व्यवस्था है। इसके बिना अनुष्ठान पूरा नहीं माना जाता। जिसके पास साधन नहीं हैं उनके लिए विशेष मार्ग यह निकाल दिया गया है कि वे जप की संख्या का दशांश अलग से जप लें और उसे यज्ञ की स्थानपूर्ति मान लें। इस विकल्प प्रतिपादन में यज्ञ की उपेक्षा नहीं, वरन अनिवार्यता बताई गई है, भले ही वह सही रूप से संपन्न न हो सकी हो और अपवाद की तरह ही अतिरिक्त जप के रूप में क्यों न अपनाई गई हो!

जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद यज्ञ के साधन न मिल सकने के संदर्भ में हुआ है। जनक कठिनाइयाँ बताते रहे हैं और याज्ञवल्क्य उसके लिए आपत्तिकालीन सुझाव बताते हुए अनिवार्यता पर ही जोर देते रहे हैं। जनक पूछते हैं कि यदि हव्य चरु सामग्री न मिल सके तो क्या करें? उत्तर में कहा गया है कि नित्य खाए जाने वाले अन्न से ही काम चला लें। अन्न भी न हो तो वनस्पतियों से काम चला लें। वनस्पतियाँ भी न मिल सकें तो मात्र समिधाओं का ही हवन कर लिया जाए। अग्नि ही न मिले तो 'श्रद्धा रूपी अग्नि' में ध्यान-भावना की सामग्री होम कर मानसिक हवन कर लिया जाए। यही है उपर्युक्त संवाद के विस्तार का सार संक्षेप।

इससे सिद्ध किया गया है कि गायत्री जप के साथ यज्ञ कर्म की भी अनिवार्य आवश्यकता है। अनुष्ठानों में तो दोनों परस्पर संबद्ध ही हैं। गायत्री जप को दैनिक नित्य कर्म में सम्मिलित रखने की सामान्य

धर्म व्यवस्था में दैनिक पंचयज्ञों को भी उसी तरह का आवश्यक कृत्य बताया गया है। सभी जानते हैं कि उपासना कृत्य में बलिवैश्व विधि भी जुड़ी हुई है जिसका अर्थ होता है–संक्षिप्त हवन। कठिनाई के दिनों में यह बलिवैश्व इतना संक्षिप्त हो गया था कि महिलाएँ चूल्हे में से अग्नि निकालकर उस पर प्रथम सिकी रोटी के पाँच कण गायत्री मंत्र का पाँच बार उच्चारण करते हुए हवन कर लेती थीं। नैष्ठिक उपासक भी ऐसा ही करते थे। वे भोजन के समय सामने परोसे भोजन में पाँच छोटे ग्रास पास में अग्नि मँगाकर हवन कर लिया करते थे। अब भी यह परंपरा जहाँ–तहाँ जीवित है। युग निर्माण योजना द्वारा इस संक्षिप्त परंपरा को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

भारतीय परंपराओं के प्रचलन में तत्त्वदर्शी ऋषियों ने बुद्धिमत्ता, सूक्ष्म दृष्टि, उपयोगिता एवं तथ्य स्थित को पग–पग पर ध्यान में रखकर ही कदम उठाए हैं। धर्म कृत्यों में यज्ञ को प्राथमिकता देते हुए भी उनने अनेकानेक तथ्यों को ध्यान में रखा है। उपयोगिता रहित प्रचलन वे कर ही नहीं सकते थे। प्रमुखता देने के क्रम में भी उन्होंने किसी कृत्य की प्रतिक्रिया और उपलब्धि को ही ध्यान में रखा है। यज्ञ को धर्मकृत्यों में प्रधानता मिलने में भी उसकी भौतिक एवं आत्मिक उपलब्धियों को ही ध्यान में रखा गया है।

शास्त्रों में भगवान का एक नाम 'यज्ञपुरुष' भी है। शतपथ की **'यज्ञो वै विष्णु'** श्रुति में यज्ञ को निश्चित रूप से विष्णु ही माना है। 'वै' शब्द में इस प्रतिपादन पर जोर दिया गया है और निश्चित कहा गया है। ऋग्वेद के आरंभ में यज्ञ को मार्गदर्शक–पुरोहित सद्गुरु बताया गया है। भजन करने वाले को 'देव' संज्ञा देते हुए उस कृत्य की प्रतिक्रिया को रत्न राशि की उपमा दी गई है। वेद वाङ्मय में जितना प्रकाश यज्ञविद्या पर डाला गया है और यज्ञाग्नि का जितना माहात्म्य बताया गया है उतना और किसी का नहीं। **'अग्नये नय सुपथा राये** ·····।' ऋचा में इस सर्वसमर्थ शक्ति से सन्मार्ग पर घसीट ले चलने की अभ्यर्थना है। गायत्री मंत्र के **'धियो योनः प्रचोदयात्'** भाग का यही अभिप्राय है।

सामान्य जीवन के परंपरागत धर्मकृत्यों में यज्ञ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। जन्म से लेकर मरणपर्यंत षोड्श संस्कारों का विधान है। यह सभी यज्ञपरक हैं। यज्ञ के बिना इसमें से एक भी संस्कार संपन्न नहीं हो सकता। यज्ञोपवीत का तो नाम ही यज्ञ की प्रधानता का बोधक है। गायत्री की भावना और यज्ञ की क्रिया का समन्वित रूप ही यज्ञोपवीत है। विवाह संस्कार में यज्ञाग्नि की वर-वधू द्वारा परिक्रमा किया जाना ही प्रधान कृत्य है। भाँवर फिरना ही विवाह की दृश्य घोषणा है। अंतिम संस्कार अंत्येष्टि है। चिता को विशुद्ध रूप से बड़ी आकृति का यज्ञ ही समझा जा सकता है। उसे पूरे या अधूरे विधान के अनुसार किसी प्रकार क्यों न जलाया जाए, यज्ञ से संबंधित कितने ही नियम उसमें पालने होते हैं। पूर्णाहुति के रूप में कपालक्रिया घृत आहुति के साथ ही संपन्न की जाती है।

वार्षिक यज्ञ होली का प्रचलन अभी भी किसी न किसी रूप में सर्वत्र पाया जाता है। देवी-देवताओं की पूजा में किसी न किसी रूप में हवन अवश्य ही जुड़ा रहता है। न्यूनतम विधान के रूप में अगरबत्ती और दीपक जलाकर सामान्य पूजा विधान में यज्ञकृत्य की चिह्नपूजा कर ली जाती है। अगरबत्ती को हवन-सामग्री का और दीपक को घृत का प्रतीक मान लिया जाता है। शुभ कर्मों के शुभारंभ में यज्ञ का कोई न कोई रूप अवश्य ही बनता है, भले ही वह मोमबत्तियाँ, धूपबत्तियाँ जलाने जैसी प्रथाओं के रूप में ही क्यों न कर लिया जाता हो!

विचारणीय यह है कि हमारी महान सांस्कृतिक परंपरा में यज्ञ कर्म को ऐसी प्रमुखता क्यों मिली? उत्तर प्राप्त करने के लिए जितनी गहराई में उतरा जाता है, जितना अन्वेषण किया जाता है, उतनी ही रहस्यमय परतें खुलती चली जाती हैं और प्रतीत होता है कि इस प्रचलन में ज्ञान और विज्ञान का पूरी तरह समावेश है। आत्मिक और भौतिक प्रगति के सभी तथ्य इसमें बीज रूप में विद्यमान हैं। व्यक्ति और समाज की सुख-शांति के अति महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का प्रशिक्षण इस पुण्य प्रक्रिया के माध्यम से भली प्रकार किया गया है।

यज्ञ का भावार्थ है–परमार्थ उदार कृत्य। संस्कृत की यज् धातु से यज्ञ शब्द बना है जिसके तीन अर्थ होते हैं–(१) देवत्व (२) संगठन (३) दान। इन तीनों ही प्रवृत्तियों को व्यक्ति और समाज के उत्कर्ष की दिव्य धाराएँ कहा जा सकता है। देवत्व का अर्थ है–परिष्कृत व्यक्तित्व–दैवी सद्गुण। संगठन अर्थात एकता, सहकारिता–संघबद्धता। दान–अर्थात समाजपरायणता, विश्व कौटुंबिकता–उदार सहृदयता। इन तीन प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व 'यज्ञ' करता है। उसे इन तीन प्रतिपादनों की ज्वलंत प्रतिमा, धवल ध्वजा कहा जा सकता है। ज्ञानयज्ञ की लाल मशाल को इसी यज्ञाग्नि का प्रतिनिधि समझा जा सकता है। विचार क्रांति को–ऋतंभरा प्रज्ञा को, गायत्री को प्राण-प्रतिष्ठा कहा जा सकता है। यज्ञ अभियान में सद्भावनाओं को सत्कर्मों के रूप में परिणत करने की प्रेरणा है। ज्ञान और कर्म का समन्वय ही प्रगति के आधार खड़े करता है। सत्कर्म को तप और सद्ज्ञान को यज्ञ कहा गया है। आत्मिक प्रगति के यही आधार हैं। भौतिक प्रगति के लिए भी श्रम और शिक्षा को ही प्रधान साधन माना गया है। इसमें गायत्री और यज्ञ के सिद्धांतों को झाँकते हुए देखा जा सकता है।

जीवन यज्ञ का तत्त्वज्ञान ही व्यक्ति को महान बनाता है। विराट ब्रह्म की कल्पना के साथ-साथ यज्ञावशिष्ट ही खाने का निर्देश है। जो दिए बिना खाता है सो चोर है। देवताओं ने यज्ञ में देवत्व प्राप्त किया जैसी सूक्तियाँ मिलती हैं। इन प्रतिपादनों में समाजपरायणता की प्रेरणा है। संक्षेप में यज्ञ दर्शन व्यक्तिगत जीवन में चरित्रनिष्ठा और लोक व्यवहार में समाजनिष्ठा के आदर्श को अपनाए जाने की प्रेरणा देता है। व्यक्ति और समाज की सर्वतोमुखी प्रगति और सुख-शांति का यही मार्ग है।

यज्ञ की प्रतीक-प्रतिमा में सन्निहित सूक्ष्म प्रेरणाओं की व्याख्या करते हुए व्यक्ति को पवित्र और समाज को समर्थ बनाने का लोक-शिक्षण जितनी अच्छी तरह दिया जा सकता है वैसा अन्य किसी धर्मकृत्य के माध्यम से संभव नहीं हो सकता। यज्ञाग्नि की कितनी ही विशेषताएँ हैं। यथा–(१) सदा ऊँचा सिर रखना–कैसा भी दबाव

पड़ने पर भी सिर नीचे न झुकाना। (२) जो भी संपर्क में आए उसे अपने समतुल्य बना लेना। (३) जो मिले उसका संचय न करके विश्व वसुधा के लिए बिखेर देना (४) अपने अस्तित्व में गरमी और रोशनी की कमी न पड़ने देना (५) अपनी सामर्थ्य को लोकहित में नियोजित किए रहना आदि। यज्ञाग्नि ऋग्वेद के अनुसार ईश्वर प्रेरित पुरोहित है और वाणी के मूक रहने पर भी अपनी गतिविधियों से सर्व-साधारण को समग्र प्रगति और सुख-शांति की प्रेरणा देता रहता है। इन पाँचों विभूतियों का महत्त्व समझने और प्रेरणाओं को व्यवहार में उतारने का लोक शिक्षण यदि ठीक तरह दिया जा सके तो मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण की प्राचीनकाल जैसी सतयुगी परिस्थितियाँ भी फिर उत्पन्न हो सकती हैं। तिरंगे झंडे में लगे हुए तीन रंगों की व्याख्या राष्ट्रीय प्रगति के आधारभूत तीन सिद्धांतों के रूप में की जाती रही है। उपर्युक्त पाँच यज्ञाग्नि प्रेरणाओं की यदि भावभरी-बुद्धिसंगत व्याख्या की जा सके तो उसमें व्यक्ति एवं समाज के विभिन्न पक्षों पर लागू होने वाले कितने ही पंचशीलों के साथ तालमेल भली प्रकार बैठ जाता है। युग परिवर्तन के लिए, उज्ज्वल भविष्य की संरचना के लिए जनमानस में इन्हीं आदर्शों की प्रतिष्ठापना की जाती है।

कहा गया है-देवताओं ने 'यजन' कर देवत्व प्राप्त किया। कहा गया है कि नरपशु में ब्राह्मणत्व का उदय यज्ञ कार्य से ही होता है। ब्राह्मण के छह कर्मों में एक-तिहाई योजना यज्ञ करने और यज्ञ कराने की है। इन प्रतिपादनों में परोक्ष रूप से पवित्रता और प्रखरता के उन तथ्यों की गरिमा बताई गई है जो यज्ञकृत्य के प्राण और विश्वशांति के आधार हैं। व्यक्ति और समाज का-प्रकृति और सृष्टि का सारा क्रम यज्ञचक्र की धुरी पर ही परिभ्रमण कर रहा है। उदार सहयोग का यज्ञ दर्शन ही सर्वत्र सजीवता, सुव्यवस्था, प्रगतिशीलता और सुख-शांति की परिस्थितियाँ बनाए हुए है। शरीर के अवयव एक-दूसरे के साथ सघन सहयोग करते हैं तभी जीवनरथ चलता है। यदि उनमें संकीर्ण स्वार्थपरता घुस पड़े, आपा-धापी पर उतर आएँ और सहयोग

से जी चुराएँ तो फिर जीवन यात्रा एक दिन भी न चल सकेगी। जलचक्र स्पष्ट है–समुद्र से बादलों को–बादलों से धरती को–धरती से नदियों को–नदियों से समुद्र को जल मिलता है। इसी से प्राणियों की प्यास बुझती है और हरियाली जीती है। इस जलचक्र में कहीं भी व्यवधान पड़ेगा तो धरती तवे की तरह जलने लगेगी। प्राणि चक्र में, वनस्पति को प्राणी खाते हैं–प्राणियों के मल-मूत्र से वनस्पति को खुराक मिलती है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। पेड़ों से छोड़ी ऑक्सीजन प्राणियों का आहार है–प्राणियों की छोड़ी कार्बन डाइऑक्साइड पर पेड़ों का जीवन निर्भर है। पशुओं और मनुष्यों के बीच भी ऐसा ही उदार सहयोग है। यही यज्ञ प्रवृत्ति है। इसी को अपनाकर मनुष्य को सामान्य प्राणियों से ऊँचा उठने का अवसर मिला है। इस आदर्श की उपेक्षा होने लगती है तो संसार में असंख्य संकट खड़े होते हैं। इन सत्प्रवृत्तियों को ठीक तरह अपनाने पर हर समस्या का सरल समाधान निकल आता है। मानव कल्याण और यज्ञीय आदर्शों को एक ही तथ्य के दो पक्ष कह सकते हैं। इसी से गीताकार ने कहा है कि प्रजापति ने यज्ञ और मनुष्य को साथ-साथ सृजा और कहा कि दोनों के बीच सघन संबंध बना रहेगा तो सुख-शांति की कमी न रहेगी। विश्व-कल्याण के इस महान सिद्धांत को यज्ञीय तत्त्वज्ञान कहा गया है और उसका लोकशिक्षण करने के लिए अग्निहोत्र को प्रतीक उपचार के रूप में प्रमुख धर्मकृत्य का सम्मान दिया गया है।

यज्ञ का भौतिक विज्ञान भी है। वायु की दुर्गंध को सुगंध से दमन करने की यह प्रक्रिया मनुष्य की सबसे बड़ी खुराक–प्राणवायु के परिशोधन में महत्त्वपूर्ण योगदान करती है। आज जब वायु प्रदूषण की समस्या विश्व संकट का रूप धारण करती जा रही है तो परिशोधन के प्रमुख अस्त्र यज्ञोपचार को फिर से प्रखर बनाना होगा।

रोग-कीटाणुओं को मारने की जितनी शक्ति यज्ञ ऊर्जा में है, उतनी सरल, व्यापक और सस्ती पद्धति अभी तक नहीं खोजी जा सकी है। यज्ञ को प्राचीनकाल में शारीरिक व्याधियों और मानसिक आधियों के शमन में सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया जाता रहा है। यज्ञ

चिकित्सा के खोए पृष्ठ यदि फिर से ढूँढ़े जा सकें और इस विज्ञान को नए सिरे से सुव्यवस्थित किया जा सके तो ऐसे सत्परिणामों की पूरी-पूरी संभावना है कि शारीरिक ही नहीं, मानसिक रोगों का भी सफल उपचार किया जा सके। चिकित्सा पद्धतियों में यज्ञ चिकित्सा को इसलिए वरिष्ठता मिल सकती है कि औषधियों को सूक्ष्मतम वायुभूत बनाकर सरलता से पहुँचाया जा सकता है। औषधि उपचार में स्थूल प्रक्रिया अपनाए जाने के कारण इतनी गहरी पैठ इतनी जल्दी नहीं हो सकती। आज की रुग्णता का पर्यवेक्षण करने से प्रतीत होता है कि शारीरिक रोगों से भी अधिक अर्द्धविक्षिप्तता, सनकें, बुरी आदतें, अपराधी प्रवृत्तियाँ, उच्छृंखलता, आवेशग्रस्तता, अचिंत्य चिंतन, दुर्भावना जैसी मानसिक व्यथाएँ मनुष्य को कहीं अधिक दुःख दे रही हैं और विपत्ति का कारण बन रही हैं। इस संकट का निवारण यज्ञोपचार का सुव्यवस्थित रूप बन जाने पर भली प्रकार हो सकता है, जिस-तिस रूप में चल रही वर्तमान यज्ञ-प्रक्रिया में किसी न किसी रूप में शारीरिक और मानसिक व्याधियों के समाधान में बहुत कुछ सहायता मिलती है।

यज्ञ-प्रक्रिया का समष्टिगत व्यापक प्रभाव पर्जन्य वर्षा के रूप में होता है। पर्जन्य का अर्थ होता है-बादल। सूक्ष्म अर्थ होता है-प्राण वर्षण। प्राचीनकाल के यज्ञ युग में सर्वत्र विपुल वर्षाएँ होती थीं। इससे यज्ञ कर्म और मेघ वर्षा की परस्पर संगति बैठती है। अब-जब दुर्भिक्ष निवारण के लिए मेघ वर्षा के निमित्त विशिष्ट अग्निहोत्रों के प्रयोग हुए हैं और बहुत बार सफल भी रहे हैं। पर वस्तुतः पर्जन्य, इससे आगे का वह प्राणतत्त्व है जो यज्ञ के माध्यम से आकाश में उत्पन्न होता है और पवन तथा बादलों के माध्यम से धरती पर बरसता है। इस पर्जन्य प्राण वर्षा से सृष्टि के समस्त जड़ चेतनों को नव जीवन एवं समर्थ उल्लास प्राप्त होता है। घास-पात, औषधियाँ, जल, अन्न, वायु, दूध आदि के पर्जन्य से विशिष्ट परिपोषण मिलता है। उनका सामर्थ्य स्तर कहीं अधिक बढ़ जाता है। फलतः उन्हें जो भी पशु या मनुष्य प्रयोग करते हैं, उनकी प्रखरता कहीं अधिक बढ़ जाती

है। यह उपलब्धि सर्वतोमुखी प्रगति में हर दृष्टि से सहायक सिद्ध होती है।

वायु शोधन से भी अधिक लाभ वातावरण के परिष्कार का होता है। वायु की शुद्धता का स्वास्थ्य पर सीधा प्रभाव पड़ता है। वातावरण से व्यक्तित्व का हर पक्ष प्रभावित होता है। उससे चिंतन को दिशा मिलती है। प्रवृत्तियों के परिशोधन का आधार खड़ा होता है। जनमानस के परिष्कार का जो लक्ष्य लेकर युग निर्माण मिशन चल रहा है उसके लिए प्रचारात्मक, रचनात्मक और सुधारात्मक कार्यक्रम तो अपनाने ही होंगे, लेखनी और वाणी का प्रयोग तो करना ही होगा, किंतु स्थूल प्रयत्नों से अंत:करणों के मर्मस्थलों को प्रभावित करने में इतने साधन ही पर्याप्त होंगे। उसके लिए सूक्ष्म जगत का प्रवाह ही उलटना होगा। सरदी, गरमी, वर्षा का वातावरण पर प्रभाव पड़ता है और उससे परिस्थितियों में भारी अंतर देखा जाता है। ठीक इसी प्रकार सूक्ष्म वातावरण में भी उत्कृष्टता के तत्त्वों का अनुपात बढ़ सके तो लोक-प्रवाह को उपयुक्तता की दिशाधारा में ले चलना कुछ अधिक कठिन न रह जाएगा। हवा के रुख पर नाव की गति सहज ही तेजी पकड़ती है। उज्ज्वल भविष्य की संरचना में जिस प्रकार का वातावरण अभीष्ट है उसे बनाने में गायत्री यज्ञों की शृंखला से अति महत्त्वपूर्ण अनुकूलता हो सकती है।

❐

युगसंधि के संदर्भ में गायत्री यज्ञों की भूमिका

यज्ञ का ज्ञान पक्ष यह है कि मनुष्य व्यक्तिगत जीवन में पवित्र और सामाजिक जीवन में उदार बनकर रहे। विज्ञान पक्ष यह है कि सामूहिकता, जागरूकता, अनुशासन जैसी सत्प्रवृत्तियों का अभ्यास बढ़ाया और वातावरण बनाया जाए। यह दोनों ही पक्ष ऐसे हैं जिनका सही रीति से कार्यान्वयन करने से व्यक्ति और समाज की सर्वतोमुखी प्रगति का द्वार खुलता है। देखने में यज्ञ एक कृत्य मालूम पड़ता है पर वस्तुत: वह चेतना का एक प्रवाह है। उसे सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय भी कह सकते हैं। शास्त्रकार ने सच ही कहा है कि यज्ञ में देवत्व का परिपोषण होता है और उस पुष्टि-प्रक्रिया का प्रतिफल सर्वजनीन संपन्नता और प्रसन्नता की परिस्थितियाँ उत्पन्न होने के रूप में मिलता है।

गायत्री उपासना में यों प्रेरणा तो सामूहिक सद्बुद्धि के विकास-परिष्कार की है, पर उसकी क्रिया प्राय: एकाकी जप-ध्यान के रूप में ही संपन्न होती है। सामूहिक अनुष्ठानों में भी सब लोग साथ-साथ बैठते तो हैं पर जप-ध्यान एकाकी ही करते हैं।

यज्ञ विशुद्ध रूप से सामूहिक है। उसके एकाकी प्रयोग को निरुत्साहित किया गया है। कम से कम पति-पत्नी दो तो हों ही। इससे कम में काम नहीं चलता। घृत और चरु होमने के लिए दो तो होने ही चाहिए। दैनिक बलिवैश्व अकेले भी किया जा सकता है पर उसका प्रयोजन भी अनेकों को लाभ पहुँचाना होता है। यज्ञीय प्रवृत्ति यह है कि उपयोगी पदार्थों को निज के लिए प्रयोग करने से बचाया जाए और उन्हें सार्वजनिक हित के लिए वायुभूत बनाकर बिखेर दिया जाए। वसोधारा समष्टि में व्यष्टि के समर्पण की ही भावाभिव्यक्ति है।

पदार्थों की तीन गति हैं-ठोस, द्रव और वायुभूत। यज्ञ में पदार्थों को यज्ञ की सहायता से वायुभूत बनाकर उपयोगी पदार्थों को साँस द्वारा उपलब्ध कराया जाता है। यह परमार्थपरायणता की, जनकल्याण की

प्रवृत्ति है। यज्ञकृत्य के प्रायः सभी क्रिया-कलाप ऐसे हैं, जिनमें अनेकों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। पवित्र जलाशयों का जल, पवित्र वनस्पतियों का संग्रह, कुंड, मंडप निर्माण, स्वस्ति वाचन, विसर्जन आदि में आरंभ से अंत तक होने वाले सभी क्रिया-कृत्यों में सामूहिकता एवं सहकारिता की आवश्यकता पड़ती है। मंत्रोच्चार से लेकर आहुति, दान, परिक्रमा जैसे सभी कृत्यों में सामूहिक क्रिया-कृत्य संपन्न होते हैं और एकरूपता-समस्वरता का अनुशासन पालन होता है।

यज्ञ के इस समस्त क्रिया-कलाप का गंभीर पर्यवेक्षण करने पर उसे समाजनिष्ठा के प्रशिक्षण का एक उपयोगी ध्रुवकेंद्र माना जा सकता है। राष्ट्रीय झंडाभिवादन में देशभक्ति की भावनाओं को उभारना प्रमुख उद्देश्य है। यज्ञकृत्य की प्रमुख उपयोगिता देखी जाए तो उसमें सामूहिकता, पवित्रता, उदारता जैसी सत्प्रवृत्तियों के भावतत्त्वों का अति महत्त्वपूर्ण समावेश मिलेगा। इन प्रवृत्तियों की स्थिरता और अभिवृद्धि से ही सर्वतोमुखी प्रगति की आशा की जा सकती है।

चरित्रनिष्ठा और समाजनिष्ठा की गरिमा एवं उपयोगिता को यज्ञ कृत्य के साथ जुड़े हुए अनेकानेक छोटे-बड़े कर्मकांडों की व्याख्या-विवेचना करते हुए जनमानस में भली प्रकार उतारा जा सकता है। जल्दी-जल्दी हवन की लकीर पीट ली जाए तो बात दूसरी है, अन्यथा यदि मंत्रों का अर्थ और उपचारों का तात्पर्य उपस्थित जनसमूह को भली प्रकार समझाया जा सके तो वह धर्मानुष्ठान, उच्चस्तरीय लोकशिक्षण का एक अच्छा-खासा मंच बन सकता है। दृश्य और श्रव्य उपचारों का समन्वय करके उपस्थित लोगों को सरलतापूर्वक प्रभावित किया जा सकता है। इस तथ्य के आधार पर ही धर्मानुष्ठानों से लेकर अभिनय मंचों तक की सुविस्तृत प्रशिक्षण शृंखला खड़ी की गई है। इस कसौटी पर कसने से यज्ञ को सर्वसुलभ श्रद्धासिक्त ऐसा उपचार कह सकते हैं जिसके माध्यम से उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श कर्तृत्व का धर्म शिक्षण सर्वसुलभ बनता है। यज्ञ के इस ज्ञान पक्ष की उपयोगिता का जितना माहात्म्य कहा जाए, उतना ही कम है।

यज्ञ का सूक्ष्म विज्ञान भी है। उसके तत्त्वज्ञान और विधि-विधान में ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो सूक्ष्म जगत के अदृश्य वातावरण में देवत्व की मात्रा बढ़ाते हैं। उससे सर्वजनीन सुख-शांति में अदृश्य सहायता मिलती है। वायुशोधन को यज्ञ का प्रधान उद्देश्य समझा जाता है। यों उपयोगिता उसकी भी है, पर वास्तविकता दूसरी है। वायुशोधन नहीं वातावरण का निर्माण यज्ञों का प्रमुख प्रयोजन है। पवित्र वेद-मंत्रों का सस्वर उच्चारण-विश्वचेतना में पवित्रता के तत्त्व भरने वाले दिव्य कंपन उत्पन्न करता है। सामान्य आग को यज्ञाग्नि, देवाग्नि बनाने का कार्य अध्वर्यु उद्गाता जैसे विशिष्ट योजकों की श्रद्धा और संकल्प शक्ति करती है। पवित्र हवन द्रव्यों के जलने से उत्पन्न हुई ऊर्जा से सूक्ष्मजगत में उपयोगी परिवर्तन होते हैं। एकरूपता, समस्वरता, सहक्रिया की विशिष्ट शक्ति सर्वत्र स्वीकारी जाती है। यज्ञ में ऐसे-ऐसे अनेकानेक आधारों का समन्वय है जिनका सम्मिलित प्रभाव वातावरण में ऐसे उपयोगी तत्त्वों का समावेश करता है जो अविज्ञात रूप से विश्व-कल्याण की भूमिका संपन्न कर सकें।

आज तो वायु प्रदूषण की विभीषिका पर ही चर्चा होती है। अणु विकिरण, वायु में विषाक्तता, कोलाहल की प्रतिक्रिया पर ही चिंता व्यक्त की जाती है। तत्त्वदर्शी-मनीषियों को सूक्ष्म वातावरण की चिंता इससे भी अधिक रहती है। वे जानते हैं कि वातावरण का प्रवाह मानवी तूफानों से भी अधिक सशक्त होता है। सामान्य जनचेतना उसी प्रवाह में बहती रहती है। किसी समय में युद्धोन्माद उभरते हैं तो हर आदमी पर लड़ाई के प्रति उत्साह छाया रहता है। किसी समय विलासिता की ऐसी लहर आती है कि सर्वत्र राग-रंग के ही नजारे दीखने लगते हैं। तरह-तरह के फैशन और व्यसन भी किसी समय एक ही स्तर के उभरते हैं और जनमानस को अपने साथ घसीटते हैं। इन दिनों व्यक्तिवादी संकीर्णता और प्रत्यक्षवादी भौतिकता का रंग हर किसी पर चढ़ा हुआ है। इसमें विचारशीलता की नहीं वातावरण के प्रभाव की ही प्रधानता है। जर्मनी और रूस के अधिनायकों ने अपने-अपने देशों में पिछले दिनों अपनी रुचि का वातावरण बनाया था। लोकरुचि उसी में ढलती

चली गई थी। स्थूल प्रयत्नों, प्रचार, प्रलोभन एवं दबाव के आधार पर भी वातावरण बनता है, पर उसमें उत्कृष्टता की मात्रा भरने के लिए अध्यात्म स्तर के उपाय उपचार अपनाने पड़ते हैं। ऐसे प्रयत्नों में यज्ञ की गरिमा सर्वोपरि मानी गई है। उसका प्रत्यक्ष प्रभाव लोक-शिक्षण, आरोग्य-संवर्द्धन, पर्जन्य अभिवर्षण आदि के रूप में दृष्टिगोचर होता है। परोक्ष लाभ इससे कहीं अधिक महत्त्व का है। वातावरण के परिष्कार की महत्ता यदि समझी जा सके तो उसकी क्षमता और उपयोगिता इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि उसका अनुमान लग सकना भी कठिन है। प्रत्यक्ष प्रयास का प्रतिफल सीमित क्षेत्र में, स्वल्प मात्रा में और अल्प स्थायी होता है। किंतु यदि वातावरण अनुकूल हो सके तो सब कुछ स्वल्प प्रयत्नों से ही सरल और सफल होता चला जाता है। हवा के रुख पर नाव चलने, वर्षा आते ही हरियाली उग पड़ने, वसंत में मादकता छाने जैसे असंख्य उदाहरण वातावरण के प्रभाव का परिचय देते हैं।

युग की परिस्थिति में प्रत्यक्ष कारणों का भी बहुत कुछ हाथ होता है। सामयिक समस्याओं का उपचार भौतिक प्रयत्नों से भी किया जाता है। इतने पर भी यह मानना होगा कि सूक्ष्म वातावरण की अपनी सामर्थ्य होती है और वह सरदी-गरमी की तरह हर किसी को प्रभावित करती है। तत्त्ववेत्ता जानते हैं कि सत्प्रवृत्तियाँ और दुष्प्रवृत्तियाँ कभी-कभी छूत की बीमारियों की तरह फैलती हैं। घटाओं की तरह घुमड़ती हैं, तूफानों की तरह उछलती हैं और लोकमानस को अपने साथ इधर से उधर घसीटे फिरती हैं। यह प्रचंडता जब दुष्प्रवृत्तियों के रूप में उभरती है तो सामान्य उपाय-उपचारों से रोके नहीं रुकती। नेताओं के उद्‌बोधन-कानूनी प्रतिबंध, सुधार के लिए किए गए प्रयत्न एक कोने में रखे रह जाते हैं और विकृतियाँ अपनी गति से दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती चली जाती हैं। इसी प्रकार जिन दिनों आदर्शवादी सत्प्रवृत्तियों का जोर होता है उन दिनों बिना किसी विशेष प्रयत्न के उत्कृष्टता की गतिविधियाँ बिना किसी बहुत बड़ी तैयारी और योजना के अनायास ही बढ़ती-पनपती चली जाती हैं। बुद्धयुग में, गांधीयुग में जो कुछ

अद्‌भुत देखने को मिला, उसके पीछे मानवी प्रयत्नों को उतना श्रेय नहीं है जितना कि अदृश्य वातावरण में काम कर रहे प्रचंड प्रवाह का।

युग निर्माण अभियान को चरम लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए जहाँ प्रचारात्मक, रचनात्मक, सुधारात्मक उपाय अपनाने और सरंजाम खड़े करने होंगे, वहाँ यह भी ध्यान में रखना होगा कि सूक्ष्मजगत की अनुकूलता के लिए प्रयत्न करना इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। अन्यथा मात्र भौतिक प्रयत्नों से ही अवांछनीयता के वर्तमान तूफान को रोक सकना कठिन हो जाएगा। यों सुधार उपचार करने में शासनतंत्र अपनी सामर्थ्य भर बहुत कुछ करता है। सार्वजनिक संस्थाएँ और समर्थ व्यक्तियों के निजी प्रयास भी कम उत्साहवर्द्धक नहीं हैं। पंचवर्षीय योजनाओं को देखते हुए लगता है कि प्रगति और समृद्धि के दिन दूर नहीं। इतने पर भी परिणाम निराशाजनक ही सामने आते हैं।

यहाँ फिर वातावरण की बात ही सामने आती है और सूझता है कि इसके लिए प्रोपेगंडा-प्रदर्शनों पर आधारित आंदोलनों से ही समस्याओं का हल नहीं हो सकेगा। उनकी भी पानी के बुलबुलों जैसी दुर्गति होती पग-पग पर देखी जाती है। स्थायी उपयोगों के रूप में अध्यात्म पर आधारित ऐसे उपचारों को हाथ में लेना होगा जो सूक्ष्म-जगत में शालीनता और सृजनशीलता का प्रवाह उत्पन्न कर सकें। ऐसे उपायों में सामूहिक धर्मानुष्ठानों का पक्ष सामने आता है। सामूहिक गायत्री महापुरश्चरणों जैसे प्रयत्नों को बड़े परिणाम में करने की आवश्यकता अनुभव होती है। इस संदर्भ में 'यज्ञ' का विज्ञान और विधान अपनी महत्ता का बार-बार स्मरण दिलाता है। कहना न होगा कि यज्ञ का गायत्री के साथ अन्योन्याश्रित संबंध है। दोनों अविच्छिन्न हैं। विशेष परिस्थितियों में विशेष यज्ञ विधानों की भी उपयोगिता हो सकती है किंतु वातावरण के परिशोधन जैसे महान और व्यापक प्रयास के लिए तो गायत्री यज्ञ के अतिरिक्त और कुछ सोचा भी नहीं जा सकता।

प्राचीनकाल में भी आज की तरह ही वातावरण में विषाक्तता भरने और दुष्प्रवृत्तियों के विस्तार से आतंक छा जाने का संकट उत्पन्न

था। उसके निवारण के लिए भौतिक प्रयत्न भी चलते रहे किंतु अध्यात्म उपचारों को विस्मृत नहीं किया गया। उस क्षेत्र के जानकारों ने ऐसे सूक्ष्म प्रयत्न भी जारी रखे जो वातावरण में अनुकूलता उत्पन्न करें और भौतिक सुधार उपायों की सफलता में परोक्ष अनुदान प्रस्तुत करें।

रावणकालीन असुरता से निपटने योग्य वातावरण बनाने के लिए गायत्री के द्रष्टा महर्षि विश्वामित्र ने सुविस्तृत यज्ञ किया था। उसकी सफलता एवं सुरक्षा का उत्तरदायित्व भगवान राम-लक्ष्मण ने निभाया था। उन्हीं दोनों ने भौतिक प्रयत्न के रूप में लंकाविजय का पराक्रम भी किया। उस सफलता का श्रेय किन्हें मिला, महत्त्व इस बात का नहीं, वरन उसका है कि उस परिवर्तन में सूक्ष्म प्रयासों का कितना योगदान रहा? ऋषियों का रक्तघट संचय वस्तुतः उनकी सामूहिक साधना का आलंकारिक वर्णन है।

लंकाविजय के उपरांत भी तत्त्वदर्शियों ने देखा कि वातावरण में विषाक्तता अभी भी मौजूद है और उस घटा के फिर से बरस पड़ने की संभावना है। इसका निराकरण करने के लिए महर्षि वसिष्ठ के नेतृत्व में सप्त ऋषियों के सहयोग से दस अश्वमेधों की सुनियोजित शृंखला चलाई गई थी। राम-लक्ष्मण इसके भी यजमान थे। उन यज्ञों की स्मृति में गंगा तट पर अभी भी दसाश्वमेघ घाट बना हुआ है। सूक्ष्म वातावरण का परिशोधन कृत्य भी लंकाविजय के पराक्रम का पूरक माना गया था। उसके लिए भी विपुल साधन जुटाए गए थे।

भगवान कृष्ण को भी यही करना पड़ा था। महाभारत से प्रत्यक्ष दुष्टता का तो शमन हो गया था, पर सूक्ष्मजगत में उसका अस्तित्व फिर भी बना रहा। अतः आवश्यक समझा गया कि उसका भी उन्मूलन किया जाए। भगवान कृष्ण के नेतृत्व में पांडवों ने सुविस्तृत राजसूय यज्ञ का आयोजन किया था। लंकायुद्ध, महाभारत जैसे विक्षोभ उत्पन्न करने वाले कटु कृत्यों की भी प्रतिक्रिया होती है। असंख्यों का चीत्कार अंतरिक्ष में भरता है तो उससे अनेकों प्रकार के संकट उत्पन्न होते और विनाश के बादल गरजते हैं। इस विपत्ति की निवृत्ति के लिए इतिहास-

प्रसिद्ध युद्धों के उपरांत आत्मविज्ञानियों ने शोधनात्मक उपचारों के रूप में सामूहिक धर्मानुष्ठान किए हैं और उनमें यज्ञ-प्रक्रिया को प्रधानता दी है। पिछले वर्षों दो विनाशकारी विश्वयुद्ध हो चुके हैं। हंगरी, इसराइल, कोरिया, वियतनाम जैसे छिटपुट युद्ध इस बीच कितने ही हो चुके हैं। भारत विभाजन के समय हुए नर-संहार और जापान पर गिराए अणु बम जैसे क्रूर कर्म भी इसी अवधि में होते रहे हैं। इन सबकी संयुक्त विषाक्तता अभी भी वातावरण में छाई हुई है। प्रदूषण और क्रंदन दोनों ही युद्धों से उपजते हैं और अंतरिक्ष में विनाश की घटनाएँ बनकर घुमड़ते हैं। अपने समय के अनेकानेक संकटों के पीछे इस विषाक्तता का बड़ा हाथ होने की बात तत्त्वदर्शी कहते हैं। उस कथन में सचाई भी है।

ऐसे समय में ऐतिहासिक प्रयत्नों के पुनरावर्तन की आवश्यकता अनुभव की जा रही है और उसी प्रकार के परिशोधन प्रयत्नों की योजना बन रही हो तो उसका औचित्य ही माना जाएगा। प्रत्यक्ष जगत में छाए हुए संकटों की निवारक योजना बनाने की भाँति ही अंतरिक्ष के परिशोधन पर ध्यान दिए जाने का औचित्य है। इसके लिए सूक्ष्म-जगत को असाधारण रूप से प्रभावित करने वाली यज्ञ परंपरा का प्रयोग चल रहा हो तो उसे महामनीषियों के मार्गदर्शन का अनुगमन ही कहा जाएगा। युग निर्माण योजना के तत्त्वावधान में चल रही गायत्री यज्ञों की पुण्य-प्रक्रिया को ऐसे ही सामयिक प्रयत्नों में गिना जा सकता है।

संव्याप्त विकृतियों के निराकरण का एकमात्र उपाय 'दमन' ही नहीं है। दूसरा उपाय शमन भी है। शमन अर्थात समझाया जाना-समाधान। दमन के लिए दंड विधानों का आश्रय लेना पड़ता है और शमन के लिए लोकशिक्षण का-जनजागरण का उपाय अपनाना होता है। संसार के शक्तिशाली तंत्र दो ही हैं-एक धर्म दूसरा शासन। दोनों ही क्षेत्रों में सामयिक समाधान के लिए अपने-अपने क्षेत्रों के प्रतिभाशाली

लोगों का सम्मेलन बुलाया जाता था और उसमें विचार-विनिमय के माध्यम से ऐसा निर्धारण किया जाता था जो सुधार की आवश्यकता पूरी कर सके। ऐसे आयोजनों को विशिष्ट यज्ञ कहा जाता था। इनमें धर्मक्षेत्र के आयोजनों को वाजपेय यज्ञ और शासन क्षेत्र के सम्मेलनों को राजसूय यज्ञ कहते थे। राजसूय यज्ञों में अश्वमेध की प्रधानता थी-वाजपेय यज्ञों में गायत्री यज्ञों की। सामयिक समस्याओं के समाधान में इनका असाधारण योगदान रहता था। अपने गायत्री यज्ञों के साथ जुड़े रहने वाले युग निर्माण सम्मेलनों का संयुक्त धर्मानुष्ठान इस प्रकार से प्राचीनकाल की वाजपेय परंपरा के अंतर्गत ही आता है।

क्रांतियाँ तोड़-फोड़ को, बदलाव-परिवर्तन को कहते हैं। उसमें उखाड़-पछाड़ का ध्वंसात्मक पक्ष आगे रहता है। यह मौलिक पक्ष हुआ। आत्मिक पक्ष में सृजन को प्रधान रखना होता है ताकि ध्वंस की आवश्यकता ही न पड़े। अँधेरे को पीटने की अपेक्षा यह अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण है कि प्रकाश की व्यवस्था बनाई जाए। जिस युगक्रांति के लिए इन दिनों जो उच्चस्तरीय प्रयास चल रहे हैं उनमें समावेश तो प्रत्यक्षत: रचनात्मक कार्यक्रमों का ही रहेगा, पर मूलत: उसे वातावरण परिशोधन की सूक्ष्म प्रक्रिया ही समझा जाना चाहिए। इसमें सृजन मुख्य है, ध्वंस गौण। सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन का अनुपात जिस क्रम से बढ़ेगा उसी प्रकार दुष्प्रवृत्तियाँ घटती चली जाएँगी। दुष्प्रवृत्तियाँ तोड़ने भर से यह आवश्यक नहीं कि सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ ही जाएँ। रिक्तता भी आ सकती है किंतु सृजनात्मक प्रयोगों का सत्परिणाम सुनिश्चित है। उससे विघातक तत्त्वों का सहज निराकरण होता चला जाएगा और युगक्रांति का उद्देश्य सुगमतापूर्वक पूरा होता चलेगा।

गायत्री यज्ञों की शृंखला में युगक्रांति के स्थूल और सूक्ष्म स्तर के उन सभी तत्त्वों का समावेश है जो जनमानस को, व्यापक वातावरण को परिष्कृत करके उज्ज्वल भविष्य की संरचना कर सकते हैं।

❑❑❑

मुद्रक-युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)